शैक्षणिक

संदर्भ

वर्ष: 16 अंक 88 (मूल क्रमांक 145)
मार्च-अप्रैल 2023 मूल्य: ₹ 50.00

सम्पादन
राजेश खिंदरी
माधव केलकर

प्रबन्धकीय सह-सम्पादक
पारुल सोनी

सहायक सम्पादक
अतुल वाधवानी

सम्पादकीय सहयोग
सुशील जोशी,
उमा सुधीर

आवरण
राकेश खत्री

वितरण: झनक राम साहू

सहयोग
अनमोल जैन, हरिओम पाटिल,
श्रेया, कमलेश यादव

शैक्षणिक

संदर्भ

वर्ष: 16 अंक 88 (मूल क्रमांक 145)
मार्च-अप्रैल 2023

मूल्य: ₹ 50.00

एकलव्य फाउण्डेशन
जमनालाल बजाज परिसर
जाटखेड़ी, भोपाल-462 026 (म.प्र.)
फोन: +91 755 297 7770, 71, 72, 4200944
www.sandarbh.eklavya.in
सम्पादन: sandarbh@eklavya.in
वितरण: circulation@eklavya.in

अब *संदर्भ* आप तक पहुँचेगी रजिस्टर्ड पोस्ट से इसलिए सदस्यता शुल्क में वृद्धि की जा रही है।

सदस्यता शुल्क	एक साल (6 अंक)	तीन साल (18 अंक)	आजीवन
	450.00	1200.00	8000.00

मुखपृष्ठ: *युद्ध,* सुनने में ही कितना बड़ा शब्द लगता है। युद्ध अपने साथ अनेकों चुनौतियाँ लेकर आता है; न सिर्फ युद्धभूमि में बल्कि युद्धभूमि के बाहर भी दिल और दिमाग को पीड़ा देने की क्षमता युद्ध अपने में रखता है। माँ-बाप अपना दिल कड़ा करके अपने बेटों को छोड़ देते हैं वतन पर प्राण न्योछावर करने के लिए, लेकिन उनके मन की व्यथा और उस कचोट को कौन देख पाता है। दिन-ब-दिन झड़ती जाती है वो उम्मीद कि लौट आएगा हमारा अपना। इन सभी जज़्बातों से रूबरू कराती एक कहानी *'युद्ध', पढ़िए पृष्ठ 78 पर।* चित्र – **नीलोफर वाडिया।**

पिछला आवरण: *मादा जेज़बेल तितली।* इस धरती पर तरह-तरह की रचनाएँ हैं। उन्हीं सुन्दर रचनाओं में तितलियों का अपना विशेष योगदान है। उन्हें देखकर लगता है कि जुगनू की तरह उन्हें भी किसी डिब्बी में बन्द करके अपने पास ही रख लिया जाए। ऐसी ही एक खूबसूरत तितली है 'जेज़बेल', जो अपने रंगों और विशेष आवास के लिए मशहूर है। क्या आप विश्वास करेंगे कि यदि जी भर के जेज़बेल का दीदार करना हो तो आपको दिनभर आम के पेड़ पर बैठे रहना पड़ेगा? जेज़बेल को और भी करीब से जानने के लिए *पढ़िए सम्बन्धित लेख पृष्ठ 05 पर।*

यह अंक त्रिवेणी एजुकेशनल ट्रस्ट के वित्तीय सहयोग से प्रकाशित किया जा रहा है।

LINK : Cover 4 - kidadl.com/facts/animals/common-jezebel-butterfly-facts

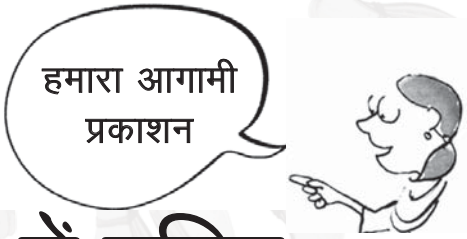

खेल खेल में गणित

इस किताब में विभिन्न गतिविधियों द्वारा प्रारम्भिक स्तर पर गणित की अवधारणाओं को समझाने व सुदृढ़ करने के लिए सुझाव दिए गए हैं।

यह कक्षा 1 व 2 के शिक्षकों के लिए एक उम्दा संसाधन सामग्री हो सकती है...

एकलव्य

अधिक जानकारी के लिए सम्पर्क करें...
पता - एकलव्य फाउंडेशन
जमनालाल बजाज परिसर, जाटखेड़ी, भोपाल - 462 026 (मप्र)
फोनः +91 755 297 7770-71-72
वेबसाइटः www.eklavya.in; ईमेलः pitara@eklavya.in

कुदरत के सच और समाज - भाग 2

एकलव्य के 40 साल और होविशिका के 50 साल होने के उपलक्ष्य में राज्य संग्रहालय, भोपाल में आयोजित 'होविशिका व्याख्यान शृंखला' में दिए गए व्याख्यान का दूसरा भाग। इसमें लेखक विज्ञान की भाषा के विषय में बात करते हैं, और उसके कई पहलुओं को भी उजागर करते हैं। सिर्फ इतना ही नहीं, आज के समय में शोध में विज्ञान को किस हद तक जाना चाहिए, और कहाँ अपनी सीमाएँ बाँध लेनी चाहिए, ये भी उनके व्याख्यान का एक अहम मुद्दा है। समय तो काफी आगे बढ़ चुका है और उसके साथ विज्ञान ने भी अपने पंख पसारे हैं लेकिन आज भी स्त्रियों और हाशिये के तबकों की इस क्षेत्र में कम तादाद दिखाई देती है। इस पर काम करने का वक्त है। लेखक इस लेख में विज्ञान और ज्ञान, दोनों के औचित्य पर चर्चा करते हैं। एक अच्छा इन्सान बनना ही ज्ञान और विज्ञान का औचित्य है।

23

क्या अँग्रेज़ी भारत के भविष्य की भाषा है?

पैगी मोहन का यह लेख भारत में अँग्रेज़ी भाषा का भविष्यउन्मुखी आंकलन है। भारत विभिन्न भाषाओं और बोलियों का देश है, फिर इसका भविष्य अँग्रेज़ी भाषा मात्र कैसे हो सकती है? 19वीं सदी में ब्राह्मणों और कायस्थों ने जब तक देवनागरी और कैथी पर संघर्ष किया, तब तक अँग्रेज़ी भारत के 'एलीट' वर्ग के लोगों में अपने कदम जमा चुकी थी। बस, फिर क्या था, धीरे-धीरे सारी भाषाओं को पीछे छोड़ते हुए अँग्रेज़ी कुलीन वर्ग की भाषा बन गई। परन्तु आज का युग बदलाव का युग है, जहाँ एक तरफ अभिजात वर्ग अँग्रेज़ी को छोड़ने के लिए तैयार नहीं है तो वहीं दूसरी तरफ गैर-अभिजात वर्ग ने भी अँग्रेज़ी पर अपना हक जमाते हुए मोर्चा सम्भाल लिया है। इस लेख में लेखिका भाषा के ज़रिए सत्ता और शक्ति संघर्ष को भी दर्शाती हैं जो लगातार जारी रहता है।

65

शैक्षणिक संदर्भ

अंक-88 (मूल अंक-145), मार्च-अप्रैल 2023

इस अंक में

05 | यह प्रेम कहानी... जेज़बेल, लोरनथस और आम की
किशोर पंवार

11 | बालमेला - मज़ा ही मज़ा
कालू राम शर्मा

19 | आसपास के ध्वनि परिदृश्य का आनन्द
मृणाल शाह

23 | कुदरत के सच और समाज - भाग 2
हरजिन्दर सिंह 'लाल्टू'

35 | प्लियांशी मेला नाम...!
शलाका गायकवाड

44 | सीखना उम्र का मोहताज नहीं
रोहिल

51 | दरवाज़ों और दिलों को खोलना: पढ़ने की संस्कृति...
ऊषा मुकुन्दा के साथ बातचीत

65 | क्या अँग्रेज़ी भारत के भविष्य की भाषा है?
पैगी मोहन

78 | युद्ध
लुइजी पिरांदेल्लो

84 | क्या यह सच है कि उल्लू दिन में नहीं देख पाता?
सवालीराम

आपने लिखा

मैं अभिषेक दुबे का शुक्रगुज़ार हूँ कि उन्होंने *संदर्भ* अंक-136 में प्रकाशित मेरे लेख *हिन्दी हाज़िर है!* पर इतनी विस्तृत व सोची-समझी प्रतिक्रिया लिखी (*संदर्भ* अंक-139 में प्रकाशित)। जैसा कि उन्होंने कहा, उन्होंने मेरे लेख में कुछ अहम रिक्तियों को भरा है।

इस तथ्य के अलावा कि एक लेख के लिए एक व्यापक परिदृश्य को अपने आँचल में लाना मुश्किल होता है, जिससे अभिषेक भी सहमत हैं, मेरे लेख की अन्य परिसीमाएँ भी हैं। सबसे पहले तो मेरी खुद की सीमाएँ और उनके अलावा यह कि यह लेख मूलतः अँग्रेज़ी में लिखा गया था और इसलिए यह एक अन्य पाठक समूह को सम्बोधित करता है।

चूँकि यह अँग्रेज़ी पाठकों के लिए लिखा गया था, इसलिए मैंने कई चीज़ों को नज़रअन्दाज़ किया, जो यदि मैं मूलतः हिन्दी में लिखता, तो न करता। कुछ हद तक अभिषेक ने उसकी खानापूर्ति कर दी। मैं जानबूझकर 'फोर्ट विलियम' कहानी पर लिखने से बचा क्योंकि भारत की गैर-हिन्दी दुनिया में हिन्दी राष्ट्रभाषा विरोधियों के बीच, इसे लेकर बहुत हो-हल्ला है। उनका मानना है कि हिन्दी फोर्ट विलियम में बनाई गई थी और वह एक औपनिवेशिक आरोपण है! इस पर प्रतिक्रिया देने के लिए एक पूरे लेख की ज़रूरत होगी और मेरे लेख में इसकी गुंजाइश नहीं थी।

टी. विजयेंद्र
हैदराबाद

संदर्भ अंक-142 में प्रियंका कुमारी का लेख *शौचालय - एक संघर्ष गाथा* पढ़ा। इसे पढ़ते समय कई सारे अनुभव याद आ रहे थे। लेखक ने बिहार राज्य का अपना अनुभव सबके सामने रखा लेकिन देखा जाए तो यह एक राष्ट्रीय स्तर की समस्या है। सरकारी, प्राइवेट या पब्लिक स्थान – कहीं भी स्थिति बहुत सन्तोषप्रद नहीं हैं और कई जगहों पर तो शौचालय हैं ही नहीं। लड़कियों द्वारा स्कूल छोड़ने के कारणों में एक बड़ा कारण स्कूल में शौचालय नहीं होना भी है। कई रिसर्च यह बता चुकी हैं कि या तो लड़कियाँ स्कूल छोड़ देती हैं या फिर पानी कम पीती हैं। दोनों ही स्थितियाँ ठीक नहीं हैं। यही स्थिति महिला टीचर की भी होती है।

शिक्षा के लिए तमाम सारी बातें की जाती हैं पर यह तो बुनियादी चीज़ है जिस पर ध्यान ही नहीं जाता। यह मुद्दा हमेशा से नज़रअन्दाज किया जाता रहा है।

प्रेरणा मालवीय
अज़ीम प्रेमजी फाउण्डेशन
भोपाल

यह प्रेम कहानी... जेज़बेल, लोरनथस और आम की

किशोर पंवार

आपको याद होगा सन् 2020 में भारत में राष्ट्रीय तितली के चुनाव की प्रक्रिया चलाई गई थी। इस प्रक्रिया के तहत पहले से ही चुनी हुई कुछ तितलियों में से वोटिंग के आधार पर एक राष्ट्रीय तितली को चुना जाना था। वोटिंग के लिए ये सात तितलियाँ चुनावी मैदान में थीं - कृष्णा पिकॉक, कॉमन जेज़बेल, ऑरेंज ओकलीफ, फाइव-बार स्वॉर्डटेल, कॉमन नवाब, येलो गोर्गन और नॉर्दर्न जंगल क्वीन। इनमें से 60,000 वोटों से जिस तितली को चुना गया, वह थी ऑरेंज ओकलीफ बटरफ्लाई जिसका वैज्ञानिक नाम *कलीमा इनाचुस* है। छद्मावरण दिखाने वाली यह एक अद्‌भुत और बहुत ही सुन्दर तितली है।

परन्तु आज हम जिस तितली की बात करने वाले हैं, वह है कॉमन जेज़बेल। इसके नाम में ज़रूर कॉमन लिखा है लेकिन यह होती बेहद खास है।

संदर्भ में तितलियों और मॉथ (पतंगों) पर कई लेख पढ़ने की वजह से आप इस बात से तो वाकिफ होंगे कि तितलियों के जीवन-चक्र की विभिन्न अवस्थाओं में उसे अलग-अलग पोषक पौधों की ज़रूरत होती है। लार्वा अवस्था में तितली कुछ नाज़ुक मिज़ाज होती है और उसे भोजन के रूप में कुछ विशेष पौधों की पत्तियाँ ही चाहिए होती हैं। परन्तु तितली बनने के बाद वह उन सभी फूलों से रस पी लेती है जिनके पास मकरन्द हो। चलिए, जेज़बेल के बारे में कुछ जानते हैं।

जेज़बेल का पोषक पौधा

इस तितली का प्रथम पोषक पौधा है लोरनथस जिसे बोलचाल की भाषा में बँधा या बांदा कहा जाता है। यानी मादा जेज़बेल बांदा की पत्तियों पर ही अपने अण्डे देती है। वह भी एक-दो नहीं, एक ही पत्ती पर ढेर सारे। इनसे निकलने वाले लार्वा इसकी पत्ती को खा-खा कर मोटे, लम्बे होकर बढ़ते जाते हैं।

एक दिन मैं अपने चेंबर में बैठा था। तभी कम्प्यूटर विभाग के एक सहकर्मी जिनका नाम लखपति है, एक टहनी लेकर मेरे पास आए और बोले, "सर, यह टूटकर नीचे गिरी थी। इस पर बहुत सारी इल्लियाँ लगी

चित्र-1: *लोरनथस परजीवी पौधों की एक प्रजाति है जो अन्य पेड़ की शाखाओं पर उगते हैं।*

हुई हैं।" उन्होंने आगे कहा, "मुझे मालूम है, आपने कॉलेज में तितलियों पर एक शो दिखाया था। तो मैं यह आपके लिए ले आया। वहाँ आम के पेड़ के नीचे भी कुछ इल्लियाँ लटकी हुई हैं।" मैंने कहा, "चलो देखते हैं।" हम कम्प्यूटर विभाग की लोहे की सीढ़ियों के ऊपर लगे लोहे के पतरों पर चढ़ गए। ऊपर चढ़कर आम की टहनी पर उग आए बँधा की पत्तियों को देखा, वहाँ का नज़ारा कुछ अलग ही था। 30-35 फीट की ऊँचाई पर आम के पेड़ पर यहाँ-वहाँ बँधा की झाड़ियाँ लटकी हुई थीं। उनकी पत्तियों पर पीले रंग के अण्डे और कुछ लार्वा चल रहे थे। मैंने उनके फोटो लिए और घर आकर *बटरफ्लाइज़ ऑफ पेनिनसुलर इंडिया* नामक किताब में देखा तो मालूम हुआ कि ये अण्डे और लार्वा तो जेज़बेल के हैं।

लोरनथस - आम की टहनी पर

लोरनथस पौधा कहाँ पाया जाता है? अन्य पौधों की तरह यह ज़मीन पर तो नहीं मिलता। यह मिलता है ज़मीन से ऊपर हवा में लटका हुआ, आम, नीम या शिरीष के पेड़ की किसी शाखा के सहारे। मज़ेदार बात तो यह है कि ये वहाँ पहुँचता कैसे है और आम के पेड़ से इसका क्या रिश्ता है। दरअसल, यह एक आंशिक परजीवी पौधा है जो आम या आम जैसे अन्य पेड़ों की शाखाओं से चिपका रहता है या यूँ कहें कि बँधा रहता है, तभी तो कहलाया 'आम का बँधा'।

लोरनथस अपने पोषक पौधे से पानी और खनिज लवण प्राप्त करता है। इसमें ज़मीन से पानी खींचने वाली जड़ें नहीं होती हैं, अतः अपनी तथाकथित चूषक जड़ों को पेड़ की शाखाओं में घुसाकर पानी व खनिज प्राप्त करता रहता है। वहीं, इसकी हरी मोटी लम्बी-लम्बी पत्तियाँ पानी व खनिज लवणों की सहायता से अपना

फोटो: किशोर पंवार

चित्र-2: *(अ) लोरनथस के मकरन्द से भरे नलिकानुमा फूल। (ब) लोरनथस के फल।*

भोजन बनाती रहती हैं। इस पर सुन्दर लाल नारंगी नलिकानुमा फूल भी आते हैं जिनमें खूब सारा मकरन्द भरा रहता है। अतः शकरखोरे और पुष्पचूषी जैसी चिड़िया इसके फूलों पर मण्डराती रहती हैं।

इन चिड़ियों की बदौलत होने वाले परागण से नारंगी रंग के फल भी बनते हैं। फल में बीज और चिपचिपा गूदा होता है। बस, यह बीज ही आम और अन्य पेड़ों की शाखाओं पर इसके बँधने का सबब है। चिड़िया जब इसके फल खाती हैं तो इसके बीज उनकी चोंच पर चिपक जाते हैं। चिड़िया इनसे छुटकारा पाने के लिए जब अपनी

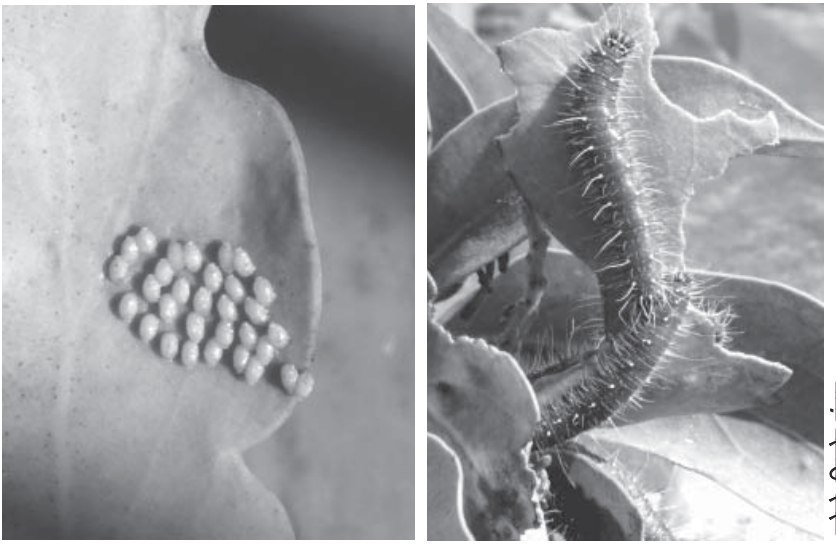

फोटो: रिश्मा वेंकट

(अ) (ब)

चित्र-3: (अ) लोरनथस के पत्ते पर जेज़बेल के अण्डे। (ब) लोरनथस के पत्ते पर जेज़बेल तितली के लार्वा।

चोंच आसपास की शाखाओं पर रगड़ती हैं तो बीज चोंच से तो छूट जाते हैं पर शाखा पर चिपक जाते हैं। ये शाखाएँ ही इन बीजों के लिए ज़मीन का कार्य करती हैं। ये बीज हवा में अंकुरित होते हैं और वहीं नया पौधा बनकर जम जाते हैं। इस तरह इस लोरनथस का जीवन-चक्र चलता रहता है और जेज़बेल को भी नए-नए पौधे अपने पोषण के लिए मिलते रहते हैं।

लोरनथस से बँधी तितली

जेज़बेल एक सर्वव्यापी तितली है और साल भर सक्रिय रहती है। घास के मैदानों और बहुत घने सदाबहार वनों को छोड़कर, यह सभी जगह मिलती है। इन जगहों पर इसके पोषक पौधे कम होते हैं। यह शहरों के बगीचे में मिलने वाली प्रमुख तितली है तथा केवल भारतीय महाद्वीप में ही मिलती है। जेज़बेल पेड़ों के ऊपर-ऊपर ही रहना पसन्द करती है और फूलों का रस पीने के लिए ही नीचे उतरती है। इसे ज़्यादातर दोपहर में देखा जा सकता है। इसे शिकारियों का कोई खतरा नहीं है क्योंकि इसके शरीर में उपस्थित एल्कोलॉइड विष इसे ज़हर-बुझा बना देते हैं।

जेज़बेल अपने अण्डे समूह में देती हैं और 20 से 30 की संख्या में

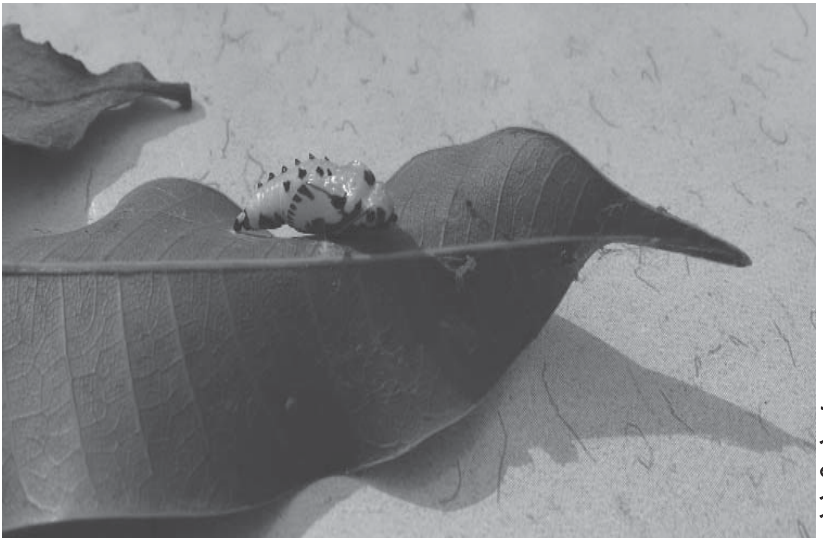

फोटो: किशोर पंवार

चित्र-4: *जेज़बेल तितली का प्यूपा जिन पर कई काले धब्बे, धारियाँ और ट्यूबरकल्स होते हैं।*

लोरनथस की पत्तियों पर चिपकाती जाती हैं। अण्डे गोल, चमकीले और गहरे पीले रंग के होते हैं। अण्डों से निकले लार्वा एक-दूसरे से चिपककर आराम करते हैं। और ऐसी स्थिति में सबके मुँह एक ही दिशा में होते हैं। लार्वा को छेड़ा जाए तो वे एक रेशम का धागा छोड़ते हुए उसके सहारे लटक जाते हैं। ये लार्वा तैलीय, पीली बदामी रचना है जिसका सिर काले रंग का होता है। इनके शरीर पर रोएँदार ट्यूबरकल्स निकले होते हैं।

प्यूपा

लार्वा की तुलना में प्यूपा का रंग हल्का पीला होता है और इस पर कई काले धब्बे, धारियाँ और ट्यूबरकल्स बने होते हैं।

तितली के पंखों का विस्तार 66 से लेकर 83 मिलीमीटर तक देखा गया है। पंखों की ऊपरी सतह सफेद और निचली सतह चटकीली पीली होती है जिस पर काली शिराएँ (पट्टियाँ) और किनारे की ओर नारंगी रंग के लगभग पंचकोणी धब्बों की श्रृंखला सजी होती है। मादा में रंग और शिराएँ ज़्यादा गहरी होती हैं।

यह प्रेम कहानी आम के पेड़ों के आसपास हवा में ऊपर ही ऊपर चलती रहती है। ये तितलियाँ जब पेड़ों से नीचे फूलों का मीठा मकरन्द पीने के लिए उतरती हैं तभी हमें इनके बारे में पता चलता है। फूलों का रस पीकर ये फिर ऊपर पहुँच जाती

फोटो: किशोर पंवार

चित्र-5: *मादा जेज़बेल तितली। इनमें रंग और शिराएँ ज़्यादा गहरी होती हैं।*

हैं, अपने प्रिय पौधे लोरनथस की तलाश में।

परिस्थिति विज्ञान की नज़र से देखें तो इस तिहरे रिश्ते में आम का पेड़ एक स्वपोषी प्राथमिक उत्पादक है, लोरनथस एक आंशिक परजीवी पौधा है। दोनों पौधे फूलधारी हैं। और जेज़बेल तितली परपोषी जन्तु यानी उपभोक्ता हैं जो लोरनथस की पत्तियों को अपना भोजन बनाती हैं। यहाँ उल्लेखनीय है कि ये तितली अच्छी परागणकर्ता भी हैं। लोरनथस के अलावा ये अन्य फूलों जैसे गेंदा, डामबिया और लेंटना का परागण भी करती हैं। लेकिन ये ज़्यादातर ऊँचाई पर ही रहती हैं, नीचे आने का सिलसिला थोड़ा कम ही है।

किशोर पंवार: शासकीय होल्कर विज्ञान महाविद्यालय, इन्दौर में बीज तकनीकी विभाग के विभागाध्यक्ष और वनस्पतिशास्त्र के प्राध्यापक रहने के बाद सेवानिवृत्त। 'होशंगाबाद विज्ञान शिक्षण कार्यक्रम' से लम्बा जुड़ाव रहा है जिसके तहत *बाल वैज्ञानिक* के अध्यायों का लेखन और प्रशिक्षण देने का कार्य किया है। *एकलव्य* द्वारा जीवों के क्रियाकलापों पर आपकी तीन किताबें प्रकाशित। शौकिया फोटोग्राफर, लोक भाषा में विज्ञान लेखन व विज्ञान शिक्षण में रुचि।

बालमेला – मज़ा ही मज़ा

कालू राम शर्मा

बरामदे में बैठे मास्साब ने मन ही मन तय कर लिया था कि बच्चों के लिए बालमेले का आयोजन किया जाना है।

मास्साब बुदबुदाए, "कुछ तो करना होगा। कुछ करेंगे तो कारवाँ आगे बढ़ेगा..."

मास्साब जब मासिक बैठक में पहुँचे तो *एकलव्य* के सदस्य स्कूल के बाहर चाय की गुमटी पर मिल गए। दुआसलाम के बाद मास्साब ने चर्चा शुरू कर दी, "आपसे एक ज़रूरी बात करनी है।"

एकलव्य के सदस्य ने कहा, "अभी कर लेते हैं... भील भई को ढील नहीं... जो बात है यहीं करके आगे बढ़ते हैं।"

यह कहते हुए एक सामूहिक ठहाका गूँज उठा।

मास्साब ने चाय की आखिरी चुस्की लेते हुए प्रस्ताव रखा, "हम अपने स्कूल में बालमेला करना चाहते हैं। आपकी मदद चाहिए।"

एकलव्य के सदस्य ने 'हाँ' में सिर हिलाया। "तो कब करना चाहते हैं? कितने बच्चे होंगे? और क्या करेंगे?"

मास्साब चाय का खाली गिलास रखते हुए बोले, "बाल मेला तो हम बच्चों के लिए करना चाहते हैं। खर्चे की व्यवस्था हम अपने स्कूल के लोकल फंड और गाँव से कर लेंगे। ...ये काम आप मेरे ऊपर छोड़ दीजिए। आप तो बस अपनी टीम को भेज दो तो मज़ा आ जाएगा।"

"तो, ऐसा करते हैं कि बैठक में चर्चा कर लेते हैं।" चाय की गुमटी से निकलकर *एकलव्य* के सदस्य और शिक्षक मासिक बैठक के कमरे में पहुँच गए।

मासिक बैठक में चर्चा की शुरुआत बालमेले के आयोजन से हुई। सभी शिक्षक माँग कर रहे थे कि हमारे स्कूल में भी बालमेला किया जाए।

मास्साब बोले, "मेरी राय है कि अगर हमारे स्कूल में सभी स्कूल के बच्चे और शिक्षक साथी आ सकें तो हम सब मिलकर एक सामूहिक बालमेला कर सकते हैं।"

सभी को मास्साब का सुझाव पसन्द आया। बैठक में बालमेले की तिथि तय कर ली गई। *एकलव्य* के साथी ने आश्वस्त किया कि बालमेला टीम स्कूल में आकर पूर्व-तैयारी वगैरह की बात कर लेगी।

मास्साब और शिक्षकों ने तय किया कि बाकी स्कूलों के बच्चे और शिक्षक कैसे और कब बालमेले में पहुँचेंगे।

चलो, चर्चा करते हैं

एकलव्य से दो साथी बालमेले की निर्धारित तिथि के हफ्ते भर पहले मास्साब और अन्य शिक्षकों के साथ तैयारी को लेकर चर्चा करने के लिए पहुँच गए थे। वहाँ पहुँचकर वे मास्साब और प्रधानाध्यापक से बोले, "तैयारी में समय लगेगा। आप तो जानते हैं कि अपना बालमेला किस तरह का होता है। इसमें बच्चों की भागीदारी प्रमुख होगी। न कोई कॉम्पीटीशन, न ही प्राइज़..."

मास्साब बोले, "देखिए, अपन जो चाहेंगे वो हो जाएगा। कोई दखल देने वाला नहीं है। अपन अलग-अलग कॉर्नर लगाएँगे। एक मिट्टी के खिलौने का, दूसरा ऑरीगेमी का, तीसरा...।"

"तो चलो बात पक्की समझो... हम अपनी टीम लेकर आपके स्कूल में एक दिन पहले पहुँच जाएँगे।" *एकलव्य* के साथियों ने मास्साब को आश्वस्त किया। "आपके ज़िम्मे काम है - एक तो बच्चे सुबह दस बजे स्कूल में आ जाएँ। बस्ता वगैरह लेकर नहीं आना है। एक काम हो सकता है कि हम सभी बच्चों को मैदान में इकट्ठा करके बात कर लें।"

मास्साब ने हामी भरते हुए कहा, "पीरियड जैसे ही खत्म होता है, हम सभी मैदान में आ जाते हैं। फिर अपन बच्चों से बात कर लेते हैं।"

सभी बच्चे मैदान में आ चुके थे। *एकलव्य* के सदस्यों को बच्चे अच्छे से पहचानते थे। "तो... दोस्तो, हम सब एक बालमेला करने जा रहे हैं तुम्हारे स्कूल में... बालमेले के दिन कोई भी अपना बस्ता लेकर नहीं आएगा। बस, तरह-तरह की गतिविधियाँ करेंगे और खूब मज़ा करेंगे।"

बच्चे एक-साथ बोले, "हाँ, मज़ा आएगा।" बच्चों की आवाज़ स्कूल के बाहर तक पहुँच रही थी।

बालमेला और बच्चों का उत्साह

आखिर वह दिन आ ही गया। संगम केन्द्र के सातों स्कूलों के बच्चे और शिक्षक स्कूल में प्रवेश कर चुके हैं। मास्साब स्कूल के द्वार पर बच्चों और शिक्षक साथियों के स्वागत में लगे हुए हैं। प्रत्येक समूह के बच्चों को एक छोटी-सी कार्ड शीट पर

उनके समूह का नाम लिखा हुआ दिया गया, जिस पर हर विद्यार्थी को अपना नाम लिखकर सेफ्टी पिन से लगाना था।

बड़ों के सीने पर भी बच्चों के समान ही नाम वाली तख्ती लटक रही है।

बच्चों के अलग-अलग समूह बनाए जा रहे हैं और उन्हें नदियों का नाम दिया गया है। एक समूह है गंगा, दूसरा यमुना, तीसरा क्षिप्रा, चौथा चम्बल, पाँचवाँ गम्भीर, छठवाँ नर्मदा, सातवाँ कालीसिन्ध और आठवें समूह का नाम मान नदी। बालमेला शुरू हो चुका है। आज का दिन बच्चों के लिए बस्ता-रहित है। स्कूल में आज प्रार्थना का आयोजन मुलतवी कर दिया गया है। मैदान में सामूहिक गीत गाए जा रहे हैं।

बच्चों के चेहरों पर खुशी और आँखों में चमक छाई हुई है। वे ऊर्जा, उत्साह और उमंग से लबरेज़ प्रतीत हो रहे हैं। सभी बच्चे अपने मनपसन्द कॉर्नर्स में पहुँच रहे हैं। आज किताब की पढ़ाई से मुक्त हैं बच्चे।

बालमेले का लुत्फ उठाने के लिए गाँव के वे बच्चे भी स्कूल में घुस चुके हैं जो स्कूल में भर्ती नहीं हो पाए हैं। वे युवा भी जो स्कूल की पढ़ाई पूरी कर चुके हैं। आसपास के स्त्री-पुरुष भी ताँक-झाँक कर रहे हैं। कुछ छोटे बच्चे, जिनकी उम्र अभी स्कूल जाने लायक नहीं हुई, वे भी बालमेले में शामिल होने को आतुर दिखाई दे रहे हैं। बालमेला आयोजक ने नन्हे बच्चों को बालमेले में भाग लेने की छूट दे दी है।

बालमेले में ब्लॉक और ज़िले के शिक्षा अधिकारी समेत गाँव के पंच और सरपंच आ चुके हैं। वे हरेक कॉर्नर में जा-जाकर बच्चों की गतिविधियों का अवलोकन कर रहे हैं। जब वे ऑरीगेमी कॉर्नर में गए तो वहाँ उन्हें अखबार की टोपी पहना दी गई। वे अब टोपी लगाकर घूम रहे हैं।

स्कूल के शिक्षक जहाँ एक ओर बालमेले की व्यवस्था में जुटे हुए हैं, साथ ही वे उन गतिविधियों का अवलोकन भी कर रहे हैं। एक शिक्षक ने दूसरे से कहा, "यार, अपने ज़माने में तो बालमेला कभी हुआ ही नहीं...।" दूसरे शिक्षक बोले, "वो तो चाट मेला होता था..." दोनों ठहाका लगाकर हँस रहे हैं।

वास्तव में, बालमेले की अवधारणा को *एकलव्य* ने एक जुदा स्वरूप प्रदान किया है। आम तौर पर बालमेले पर वयस्कों का वर्चस्व रहता आया है। सीखना-सिखाना तो दूर, बच्चों को उबाऊ और नीरस भाषण सुनने पड़ते हैं बालमेले में। ऊपर से कॉम्पीटीशन का तड़का कुछ इस तरह का कि बच्चे तनाव में ही रहते हैं। दरअसल, बालमेले की अवधारणा का मकसद पढ़ाई की मारा-मारी है ही नहीं। बस, बच्चे और शिक्षक और जो भी बालमेले में शामिल हों, वे सब आनन्द के कुछ पल एक-साथ बिताएँ। ज़ाहिर है कि जब इतना सहज वातावरण हो तो सीखने की प्रक्रियाएँ सिर के बल दौड़कर शामिल हो जाएँगी।

एकलव्य की सोच यह है कि बाल दिवस पर ही क्यों, स्कूल अपनी सुविधा से बालमेला आयोजित करें। बाल दिवस पर भी बालमेला ऐसा हो जो बाल मन को लुभाए। दरअसल, बालमेले का मकसद बच्चों को स्वच्छन्द रूप से अपनी मर्ज़ी का कुछ करने के अवसर देना है। बालमेले की सफलता इसमें निहित है कि बच्चे मज़ा करें।

बहुत कुछ है इस मेले में

अब ज़रा एक-एक करके बालमेले के कॉर्नर्स का ज़ायका लिया जाए। स्कूल कैम्पस के गेट पर बैनर लगाया हुआ है। मैदान में विभिन्न कॉर्नर्स लगाए गए हैं। गेट के पास मिट्टी रखी हुई है। गाँव के कुम्हार को आमंत्रित किया गया है। कुम्हार अपने साथ मिट्टी से बर्तन बनाने का पहिया यानी चाक लेकर आए हैं। पहिये को ज़मीन पर स्थापित किया गया है। कुछ बच्चे मिट्टी से खिलौने बना रहे हैं। कुछ चाक पर मिट्टी रखकर कुम्हार की मदद से तरह-तरह के बर्तन और खिलौने बनाने में मशगूल हैं। कुछ बड़े लोग भी अपने आपको नहीं रोक पा रहे हैं। लीजिए, अब तो एक वयस्क को अपना बचपन याद आ गया और वह मिट्टी से हाथी-घोड़े बनाने में जुट गए हैं। देखते-ही-देखते बच्चों ने कई प्रकार के मिट्टी के खिलौने बना डाले हैं।

पास में ही अखबारों से कठपुतलियाँ बनाई जा रही हैं। एक बच्ची ने दूसरी से कहा, "चल रे, अब हम ऑरीगेमी करते हैं।" "नहीं रे, संगीत में चलते हैं।" "अरे, वहाँ बाद में जाएँगे, पहले नाटक करते हैं।" बच्चे खुद तय कर रहे हैं कि कहाँ जाना है।

कठपुतली कॉर्नर में अखबारों का ढेर रखा हुआ है। अखबारों को तोड़-

मोड़कर मज़ेदार शेर, कुत्ता, बिल्ली, चीता और न जाने क्या-क्या आकृतियाँ बनाई जा रही हैं। हर बच्ची और बच्चा कुछ-न-कुछ बनाने को बेताब दिखाई दे रहा है। लो... ये बन गया शेर ...ये बन गई गाय...और ये...

पास में ही ऑरीगेमी कॉर्नर में जद्दोजहद हो रही है। एक छोटे-से चौकोर कागज़ को सलीके से मोड़कर हर बच्ची और बच्चा उसे आकार देने में व्यस्त है। "...अरे, ऐसे नहीं... हाँ, मैंने ठीक ही किया है... अरे मेरा अभी नहीं बना है... ले चल मैं मदद कर देती हूँ।" ये क्या! यहाँ तो गणित की बातें भी हो रही हैं। त्रिभुज, वर्ग, आयत और भी बहुत कुछ। यहाँ बच्चे गणित से पूरी तरह भयमुक्त दिखाई दे रहे हैं। हर कोई कागज़ से कलाकारी में जुटा हुआ है। अचानक बच्ची के मुँह से निकला, "आहा!" लो बन गई चिड़िया...और यह बन गया गुलदस्ता...।

बच्चे स्वच्छन्द होकर कॉर्नर्स में आते-जाते दिखाई दे रहे हैं। एक बच्ची ने अपने दोस्त से कहा, "चल, विज्ञान में चलते हैं...।" अरे, ये क्या... "देख तो... इस पहेली को हल करते हैं। चल कोशिश तो करते हैं...।" अरे, यह तो मोटर है! "अब आप मुझे दे दो... मैं खुद घुमाकर देखती हूँ।" बिजली की मोटर अब बच्ची के हाथों में आ गई है। "पर यह घूम कैसे रही है? इसमें तो एक सेल है।" यह क्या, दो स्टोव की पिन और साइकिल की रबर ट्यूब का छल्ला! "ऊँहूँ... हूँ..." और यह क्या, यह तो ताँबे का तार जैसा लगता है। "...ताँबे के तार का छल्ला है यह तो! अरे, यह तो ज़ोर-से घूम रहा है। और यह क्या गोल-गोल-सी चीज़? यह तो चुम्बक लगता है। अरे, तो आप ही बताएँ कि ये कैसे घूम रही है?"

...और यह क्या, कागज़ के ढाँचे? और यह क्या, कागज़ पर रंगों की बहार! "अरे, यह तो अपने *बाल विज्ञान* वाला प्रयोग है। क्या कहते हैं उसको... हाँ, क्रोमेटोग्राफी!" और यह क्या, इंजेक्शन की शीशी और वॉल्व ट्यूब से बनाए उपकरण से हायड्रोजन गैस बनाई जा रही है। "...चल, अपन यहाँ बैठकर घुमक्कड़ बनाते हैं। बहुत मज़ा आ रहा है न!"

एक जगह पर बच्चे रंगों के बीच हैं। यहाँ अपनी पसन्द का चित्र बनाया जा रहा है। रूई को अरहर के तिनकों पर लपेटकर ब्रश बनाए गए हैं। उधर एक परात में पानी भरकर, उसमें मिट्टी का तेल बिखेरकर रंग की बूँदें डाल, कागज़ को हौले से बिछाया जा रहा है। कागज़ पर रंग-बिरंगी अद्भुत आकृतियाँ बन रही हैं। बच्चे इन आकृतियों में कल्पना के घोड़े दौड़ा रहे हैं।

स्कूल कैम्पस के बाहर रास्ते से आते-जाते लोग रुक-रुककर देख रहे हैं। एक महिला अपने दूध पीते बच्चे को लेकर कैम्पस में प्रवेश कर चुकी है। वह हर गतिविधि को बड़े ध्यान से

देख रही है। ऑरीगेमी कॉर्नर में जाकर उसने एक टोपी बनाई और अपने नन्हे के सिर पर टिका दी।

एक जगह पर बच्चे नाटक में संलग्न हैं। बच्चों के एक समूह ने पहले नाटक की थीम बनाई और फिर उसका मंचन करने में लगे हुए हैं। वे यहाँ तरह-तरह की भूमिकाएँ अदा कर रहे हैं।

यह क्या... बालमेले में साइकिल! जी हाँ, यहाँ बच्चे साइकिल की कार्यप्रणाली और विज्ञान जानने की कोशिश कर रहे हैं। साइकिल के अलग-अलग पुर्ज़ों और उनकी बनावट को समझाने के लिए साइकिल मरम्मत करने वाले साथी वहाँ मौजूद हैं। वे ज़्यादा पढ़े-लिखे तो नहीं मगर भला उनसे बेहतर साइकिल को और कौन जानता होगा। कुछ बच्चे साइकिल कॉर्नर में घण्टे भर से मगन हैं। एक बात जो देखने में आ रही है, वह यह कि साइकिल कॉर्नर में लड़कियों ने झाँका तक नहीं। इसकी एक वजह कही जा सकती है कि इस तथाकथित पुरुष प्रधान समाज ने कई कामों और ज़िम्मेदारियों का लिंग के आधार पर बँटवारा जो कर रखा है। जब बच्चियों ने साइकिल कॉर्नर की ओर रुख किया तो उनके शिक्षकों ने उन्हें रोक दिया कि यह उनके बस का नहीं है।

मंच बनाया हुआ है मगर भाषणबाज़ी के लिए नहीं। मंच पर बड़े लोग दिखाई ही नहीं दे रहे। मंच तो बच्चों के लिए बनाया गया है। बालमेले की शुरुआत जितनी सहजता के साथ हुई, उतनी ही सहजता समापन में भी दिखाई दे रही है। मंच पर अब कुछ बच्चे नृत्य और संगीत की जुगलबन्दी भरा एक कार्यक्रम प्रस्तुत कर रहे हैं।

सूरज इन दिनों उत्तरायण में घूमता हुआ दिख रहा है, मगर ठण्ड अपना जलवा बिखेरने में कोई कसर नहीं छोड़ रही है। मगर स्कूल कैंपस में अभी भी गर्माहट है। बच्चों का उत्साह हिलोरे ले रहा है। कौन कहता है कि बच्चे समझदार नहीं होते। समझदारी और सूझबूझ की अनोखी मिसाल यहाँ मौजूद है।

मेले के बाद

बालमेला सम्पन्न हो चुका है। बच्चे

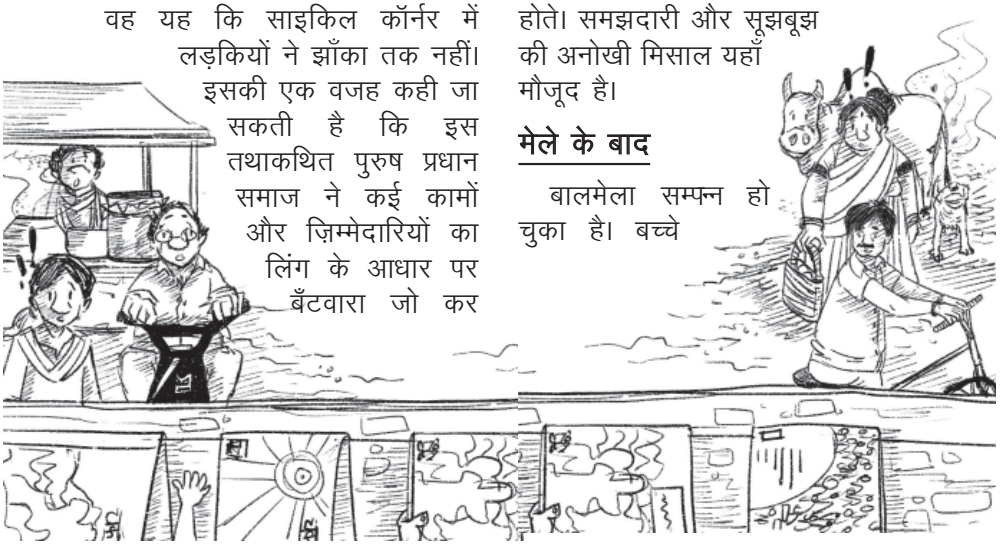

अपने-अपने घरों की ओर लौट रहे हैं। बच्चे और बड़े मुड़-मुड़कर देख, हाथ हिलाकर अभिवादन कर रहे हैं।

शरीर से थक चुके, लँगड़ाते मगर दिमागी तौर पर चुस्ती से सराबोर मास्साब बोले, "अभी तो बच्चों ने ही विदाई ली है, आपने नहीं।" दरअसल, स्कूल कैम्पस में जो भी कुछ दिखाई दे रहा था, वह कई दिनों की मशक्कत और दिमागी सूझ-बूझ का परिणाम था। समस्त शिक्षक एवं प्रधानाध्यापक अब मैदान में गोल घेरे में बैठ गए हैं। बालमेले की समीक्षा की जा रही है यहाँ पर। बस कमी रही तो समय की। एक शिक्षक बोले, "पूड़ियाँ कम पड़ गईं।" भोजन की व्यवस्था में जुटे साथी शर्म महसूस कर रहे थे। मगर जब बिन बुलाए मेहमान बच्चे शामिल हो गए तो यह तो होना ही था।

"बालमेला अपने मकसदों में सफल हुआ है।" गाँव के सरपंच बोले। "लेकिन अब इस यात्रा को आगे कैसे बढ़ाया जाए?" दिलचस्प बात यह कि बालमेले को लेकर कोई सरकारी आदेश नहीं मगर फिर भी हर अभिभावक और शिक्षक को एहसास हो रहा था कि बालमेला बच्चों की अभिव्यक्ति का सशक्त माध्यम बन सकता है।

मास्साब इतने खुश थे कि वे अपनी टाँग में हो रहे दर्द को भूलकर नाचते दिख रहे थे। आखिर में, प्रधानाध्यापक कुछ कहने की बजाय एक गीत गुनगुनाते हुए अपने बचपन में पहुँच गए –

आया है मुझे फिर याद वो ज़ालिम
गुज़रा ज़माना बचपन का,
हाय रे! अकेले छोड़ के जाना और ना
आना बचपन का,
वो खेल वो साथी वो झूले वो दौड़ के
कहना आ छूले...,
हम आज तलक भी ना भूले
हम आज तलक भी ना भूले
ख्वाब सुहाना बचपन का...।

कालू राम शर्मा (1961-2021): अज़ीम प्रेमजी फाउण्डेशन, खरगोन में कार्यरत थे। स्कूली शिक्षा पर निरन्तर लेखन किया। फोटोग्राफी में दिलचस्पी। *एकलव्य* के शुरुआती दौर में धार एवं उज्जैन के केन्द्रों को स्थापित करने एवं मालवा में विज्ञान शिक्षण को फैलाने में अहम भूमिका निभाई।

सभी चित्र: पूजा के. मैनन: *एकलव्य*, भोपाल में बतौर जूनियर ग्राफिक डिज़ाइनर काम कर रही हैं। चूँकि वे अन्यथा बातचीत करने में झिझकती हैं, स्केचिंग ने उनके विचारों को सम्प्रेषित करने और टिप्पणियों का दस्तावेज़ीकरण करने में एक माध्यम का काम किया है।

फॉर्म 4 (नियम-8 देखिए)

द्वैमासिक शैक्षणिक संदर्भ के स्वामित्व और अन्य तथ्यों के सम्बन्ध में जानकारी

प्रकाशन स्थल :	भोपाल
प्रकाशन की अवधि :	द्वैमासिक
प्रकाशक का नाम :	निदेशक, एकलव्य
राष्ट्रीयता :	भारतीय
पता :	एकलव्य फाउण्डेशन, जमनालाल बजाज परिसर, जाटखेड़ी, भोपाल, म. प्र. 462026
मुद्रक का नाम :	निदेशक, एकलव्य
राष्ट्रीयता :	भारतीय
पता :	एकलव्य फाउण्डेशन, जमनालाल बजाज परिसर, जाटखेड़ी, भोपाल, म. प्र. 462026
सम्पादक का नाम :	राजेश खिंदरी
राष्ट्रीयता :	भारतीय
पता :	एकलव्य फाउण्डेशन, जमनालाल बजाज परिसर, जाटखेड़ी, भोपाल, म. प्र. 462026

उन व्यक्तियों के नाम और पते जिनका इस पत्रिका पर स्वामित्व है

नाम :	राजेश खिंदरी, निदेशक, एकलव्य
राष्ट्रीयता :	भारतीय
पता :	एकलव्य फाउण्डेशन, जमनालाल बजाज परिसर, जाटखेड़ी, भोपाल, म. प्र. 462026

मैं राजेश खिंदरी, एकलव्य यह घोषणा करता हूँ कि मेरी अधिकतम जानकारी एवं विश्वास के अनुसार ऊपर दिए गए विवरण सत्य हैं।

राजेश खिंदरी, एकलव्य, मार्च 2023

आसपास के ध्वनि परिदृश्य का आनन्द

मृणाल शाह

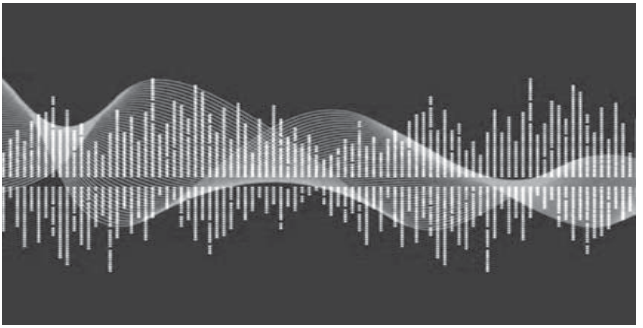

शिक्षिका विद्यार्थियों की बातचीत के शोर-शराबे से भरी हुई कक्षा में दाखिल हुईं। विद्यार्थियों का ध्यान अपनी तरफ खींचने के लिए उन्होंने दो-तीन बार ताली बजाई। विद्यार्थियों का ध्यान अपनी ओर आकर्षित करते हुए उन्होंने पूछा, "ध्वनि क्या है?" अचानक शिक्षिका द्वारा उछाले गए इस प्रश्न से विद्यार्थी कुछ सकुचा गए। कुछ विद्यार्थियों ने दबी आवाज़ में उत्तर दिए, "ध्वनि शोर है", "यह एक तरह की ऊर्जा है", "यह तो बस एक एहसास है"।

उनकी उलझन को देखते हुए शिक्षिका ने विद्यार्थियों से कहा, "चलो, इस प्रश्न को बेहतर तरीके से समझने का प्रयास करते हैं। कक्षा में सुनाई देने वाली सारी आवाज़ों को ध्यान से सुनो और सुनाई दे रही सारी आवाज़ों को पहचानकर उनका विवरण दो।"

विद्यार्थियों ने कक्षा में सुनाई दे रही ध्वनियों की सूची बनाई, जैसे – वाहनों की आवाज़ें, बगल वाली कक्षा में मौजूद विद्यार्थियों की बातचीत की आवाज़, सड़क के उस पार बजने वाले नगाड़ों की आवाज़ इत्यादि। जैसे-जैसे विद्यार्थियों ने आसपास सुनाई देने वाली ध्वनियों की सूची बनाना शुरू किया, उनके अवलोकन और भी पैने होते चले गए। अब वे गलियारे में टहलने वाले किसी व्यक्ति के कदमों की आहट जैसी सूक्ष्म ध्वनियों का भी वर्णन कर पा रहे थे। शिक्षिका ने विद्यार्थियों को कुछ अन्य ध्वनियों की सूची बनाने दी और फिर एक और प्रश्न किया, "तुमने इन ध्वनियों के बारे में और किन बातों का अवलोकन किया?"

"कुछ ध्वनियाँ धीमी थीं और कुछ

ध्वनियाँ तेज़ थीं," एक विद्यार्थी ने उत्तर दिया। "साथ ही, इन ध्वनियों को सुनकर हम यह बता सकते हैं कि ध्वनि का स्रोत चलायमान है या स्थिर है," उसके दोस्त ने जोड़ा।

"बहुत बढ़िया," शिक्षिका ने खुशी ज़ाहिर करते हुए कहा। आगे और टटोलते हुए शिक्षिका ने प्रश्न किया, "क्या इन सभी ध्वनियों में और कोई समानता भी है?"

"मेरे खयाल से ध्वनि तब उत्पन्न होती है जब दो चीज़ें आपस में टकराती हैं, जैसे – दो बर्तनों का टकराना," एक विद्यार्थी ने अपनी राय रखी। पास बैठे उसके मित्र ने प्रश्न किया, "लाउडस्पीकर या बाँसुरी में कौन-सी चीज़ें आपस में टकराती होंगी? इनमें ध्वनि कैसे उत्पन्न होती है?"

"रोचक बात है। एक खेल खेलकर देखते हैं कि क्या इसे समझ सकते हैं।" शिक्षिका ने कहा। शिक्षिका ने कुछ प्लास्टिक स्ट्रॉ विद्यार्थियों में बाँट दी और कहा कि आपको इस स्ट्रॉ को इस तरह तोड़ना-मरोड़ना है कि इसमें से ध्वनि पैदा हो। "जिसकी स्ट्रॉ से सबसे तेज़ ध्वनि निकलेगी, वह विजेता होगा।"

विद्यार्थियों ने स्ट्रॉ में हवा फूँकना शुरू किया और उत्पन्न होने वाली ध्वनियों पर ध्यान देने लगे। "बहुत बढ़िया, क्या आप और तेज़ ध्वनि निकाल सकते हैं?" शिक्षिका ने विद्यार्थियों का उत्साह बढ़ाते हुए कहा। कुछ विद्यार्थियों ने स्ट्रॉ में छेद करके देखा और कुछ ने स्ट्रॉ के सिरे काट दिए। उन्होंने बताया कि सिरे काटने से पहले की तुलना में तेज़ ध्वनि उत्पन्न हो रही थी। एक विद्यार्थी ने कहा, "मैंने देखा है कि बाँसुरी में कई सारे छेद होते हैं। मैं भी अपनी स्ट्रॉ को बाँसुरी की तरह बदलकर देखता हूँ।" "ठीक है, करके देखो क्या होता है।" शिक्षिका ने कहा।

तभी कक्षा में एक तेज़ आवाज़ सुनाई दी जिसे सुनकर सारे विद्यार्थी अचम्भित हो गए। जब सब लोग उस आवाज़ का स्रोत ढूँढ़ रहे थे, तब वह विद्यार्थी बहुत खुश हो रहा था जिसने यह आवाज़ पैदा की थी। शिक्षिका उस विद्यार्थी के पास गईं, जिसकी स्ट्रॉ से यह ध्वनि आ रही थी और देखने लगीं कि उसने अपनी स्ट्रॉ के साथ क्या किया है। तब तक कक्षा के कई अन्य विद्यार्थी भी अपनी स्ट्रॉ से वैसी ही ध्वनि निकालने के लिए जल्दी-जल्दी अपने काम में लग गए। थोड़ी ही देर में कुछ अन्य विद्यार्थियों ने भी स्ट्रॉ से तेज़ ध्वनि निकालने के तरीके का पता लगा लिया और ठीक उसी तरह के मॉडल्स बना लिए। ट्रिक यह थी कि स्ट्रॉ के एक सिरे को काटकर दो पल्ले (फ्लैप) बनाए जाएँ। अचानक पूरी कक्षा ज़ोरदार शोर-शराबे से भर गई।

जब बाकी विद्यार्थी स्ट्रॉ के अलग-अलग मॉडल्स से खेलने में मग्न थे,

चित्र-1: (ऊपर) स्ट्रॉ से ध्वनि उत्पन्न करने के तरीके की खोज में आपस में विचार-विमर्श करते हुए विद्यार्थी। (नीचे) विद्यार्थियों द्वारा बनाए गए विभिन्न डिज़ाइन जिनमें अलग-अलग तरह की ध्वनि उत्पन्न होती है। अन्तिम से पहले वाली स्ट्रॉ से सबसे तेज़ ध्वनि उत्पन्न हुई।

एक विद्यार्थी ने शिक्षिका से अपना अवलोकन साझा करते हुए कहा, "स्ट्रॉ के अलग-अलग डिज़ाइन से अलग-अलग तरह की ध्वनियाँ सुनाई देती हैं। कुछ ध्वनियाँ फीकी हैं, वहीं कुछ मॉडल्स की ध्वनियाँ पैनी हैं।" शिक्षिका ने कहा, "बहुत बढ़िया अवलोकन है। आप यह कहना चाहते हैं कि स्ट्रॉ से आने वाली ध्वनियों में ध्वनि की तीव्रता के अलावा अलग-अलग मॉडल्स से निकलने वाली ध्वनि भी अलग-अलग प्रकार की है।" फिर उन्होंने ध्वनि की अलग-अलग विशेषताओं, जैसे – तीव्रता और आयाम आदि के बारे में बताया।

विद्यार्थियों की यह ध्वनि-पार्टी समाप्त होने को थी, कि तभी शिक्षिका ने एक और प्रश्न उछाल दिया, "ध्वनि अपने स्रोत से हमारे कानों तक पहुँचती कैसे है?"

कुछ देर खामोशी से सोचने के बाद एक विद्यार्थी ने कहा, "मुझे लगता है, ध्वनि छोटे-छोटे कणों से मिलकर बनी होती है। हवा की सहायता से ये कण हमारे कानों तक पहुँचते हैं।" बाकी विद्यार्थियों ने सहमति में सिर हिलाया।

जब थोड़ा आश्चर्यचकित होकर शिक्षिका ने पूछा, "यदि ध्वनि कणों से बनी है तो ये कण कहाँ से आते होंगे? क्या जब हम बोलते हैं तब ये कण हमारे मुँह से बाहर निकलते हैं या जब हम नगाड़ा बजाते हैं तो ये कण ड्रम से बाहर निकलते हैं?"

"मुझे ऐसा नहीं लगता," एक विद्यार्थी ने कहा।

विद्यार्थियों को असमंजस में पड़ा

देखकर शिक्षिका ने कहा कि "जब ध्वनि उत्पन्न हो रही हो, तब स्ट्रॉ के इन पल्लों (flaps) को महसूस करो। "आपने क्या महसूस किया?" "दोनों पल्ले बहुत तेज़ी-से कम्पन कर रहे हैं," विद्यार्थियों ने उत्साहित होकर कहा।

"जब हम बोलते हैं तब क्या होता है? कुछ बोलते हुए गले को छूकर देखो और बताओ कि तुमने क्या महसूस किया।"

"कुछ हिल रहा है," एक विद्यार्थी ने कहा। "बहुत बढ़िया," शिक्षिका ने कहा, "तो ध्वनियाँ इस तरह उत्पन्न होती हैं। ऐसे ही आगे बढ़ती हैं। किसी भी वस्तु के अन्दर मौजूद कण कम्पित होते हैं और ध्वनि उत्पन्न करते हैं। इस कम्पन को पास के कणों में स्थानान्तरित करते हैं और यह तब तक होता रहता है जब तक ध्वनि हमारे कानों तक नहीं पहुँच जाती।" इसके बाद शिक्षिका ने अगला प्रश्न किया, "क्या आप अन्दाज़ा लगा सकते हैं कि हमारे कान में क्या होता है?"

"किसी चीज़ में कुछ कम्पन होता होगा," एक विद्यार्थी ने आत्मविश्वास के साथ जवाब दिया। "मैंने सुना है कि कान के अन्दर एक पर्दा होता है जो सुनने में मदद करता है।" एक अन्य विद्यार्थी ने कहा।

शिक्षिका ने बच्चों को कान के परदे के बारे में बताकर कक्षा का समापन किया कि कैसे उसमें एक झिल्ली होती है जो ध्वनि तरंगें पहुँचने पर कम्पन करती है। और कैसे यह कम्पन दिमाग तक संकेत पहुँचाता है जिन्हें हम ध्वनि के रूप में पहचानते हैं। विद्यार्थी चकित थे कि उन्होंने मिलकर ध्वनि के बारे में कितनी नई-नई बातें खोजीं, जबकि इनमें से कुछ ध्वनियाँ तो वे अपने दैनिक जीवन में रोज़ सुनते हैं।

कक्षा समाप्त होने के बाद भी बच्चे स्ट्रॉ से बनी बाँसुरी से निकलने वाले संगीत का आनन्द ले रहे थे। वे अभी भी स्ट्रॉ के पल्लों से उत्पन्न होने वाले कम्पन को गौर से देख रहे थे।

मृणाल शाह: सीड2सैप्लिंग में विज्ञान की शिक्षिका हैं। बच्चों द्वारा विज्ञान सीखने की प्रक्रिया को एक आनन्ददाई अनुभव बनाना उनका सपना है।

सम्पर्क: shah.mrinal@gmail.com

अँग्रेज़ी से अनुवाद: अनुराधा जैन: शिक्षा के क्षेत्र में विगत 7 साल से सक्रिय हैं। फिलहाल 'लैंग्वेज एंड लर्निंग फाउंडेशन' में अकादमिक सहायक के रूप में कार्यरत। इसके अलावा लेखन के क्षेत्र में भी सक्रिय हैं। इनके आलेख और बाल-साहित्य विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं द्वारा प्रकाशित किए गए हैं।

यह लेख *आई-वंडर* पत्रिका के अंक दिसम्बर 2021 से साभार।

लेख में उल्लिखित गतिविधि मूलतः अरविन्द गुप्ता की वेबसाइट से ली गई है। http://www.arvindguptatoys.com/arvindgupta/DH-AG-SPLENDID-STRAWS.pdf

कुदरत के सच और समाज

कुछ बिखरे हुए सवाल

हरजिन्दर सिंह 'लाल्टू'

यह व्याख्यान 5 नवम्बर, 2022 को *एकलव्य* के 40 साल और होविशिका के 50 साल होने के उपलक्ष्य में राज्य संग्रहालय, भोपाल में आयोजित 'होविशिका व्याख्यान शृंखला' में दिया गया था।

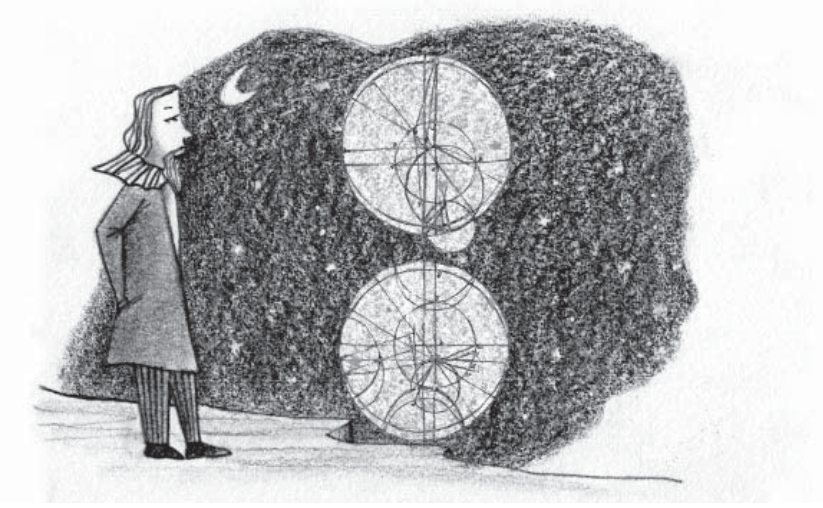

आदर्श भाषा गणित

विज्ञान की भाषा कैसी हो?: सिद्धान्त तक पहुँचने के लिए गणित के ज़रिए अमूर्त विवरण ज़रूरी है। जब तक हमें भाषा नहीं आती, अमूर्तन जटिल है, जैसे आधुनिक कला या साहित्य उनकी समझ से परे हैं, जो इसकी भाषा नहीं समझते। जटिलता को सहज बनाने के लिए अमूर्तन ज़रूरी है। मनोविज्ञान और मानव-शास्त्र जैसे विषयों में हमेशा गणितीय विवरण मुमकिन नहीं है, पर आदर्श भाषा गणित की ही है। पिछली सदी से बहुत सारा काम सैद्धान्तिक या गणना का हो रहा है और इनसे मिले नतीजों का प्रयोगों में इस्तेमाल हो रहा है। गणित विज्ञान की भाषा है।

साहित्य और कला में, अमूर्तन अनेकार्थी होता है, पर विज्ञान में गणित का इस्तेमाल स्पष्ट मायनों के लिए किया जाता है। अक्सर बड़े सवालों को सहज और सुन्दर ढंग से गणित की भाषा में कहा जाता है। चूँकि हर कहीं गणित की पढ़ाई उम्दा स्तर की नहीं होती, इस वजह से विज्ञान का एक एलीट स्वरूप दिखता है। ज़ाहिर है कि गैरबराबरी वाले समाज में यह बड़ी समस्या हो जाती है। होविशिका के समान्तर, समाज-विज्ञान की तालीम का कार्यक्रम शुरू हुआ था, पर गणित पर कोई विशेष पहल न ली गई, यह सवाल रह जाता है।

विज्ञान के मॉडल और आलोचना

गणित के इस्तेमाल की एक मिसाल लेते हुए बात आगे बढ़ाते हैं।

कुदरत के जटिल खेल को सीमित दायरों में घेरकर टुकड़ों में मॉडल बनाना आधुनिक विज्ञान की नींव है। सरलीकरण विज्ञान की ताकत भी है और सीमा भी है। जटिल को समझने के लिए टुकड़ों में देखना एक औज़ार ज़रूर है, पर यह मीमांसा का एक पक्ष है, कहानी यहाँ खत्म नहीं होती है। मसलन, हम पारिस्थितिक सन्तुलन को समझने के लिए पूरे जीव-जगत का मॉडल बनाने की कोशिश करें तो कभी सफल नहीं हो पाएँगे। एक छोटा मॉडल दो जानवरों का हो सकता है, जैसे लोमड़ी और खरगोश। 1921 में लोटका ने इस तरह का मॉडल बनाया। इसे प्रे-प्रीडेटर (शिकार-शिकारी) मॉडल कहा जाता है। बहुत सारी लोमड़ियाँ हों या बहुत कम खरगोश हों तो दोनों जानवर जल्दी ही खत्म हो जाएँगे। अगर दोनों अच्छी तादाद में हों तो एक सन्तुलित स्थिति बनती है। इस मॉडल के आधार पर चित्र बनाए जाते हैं। वैज्ञानिक इन चित्रों में आकार (ज्यामिति) देखता है, उन्हें एल्जेबरा से समझता है। फिर वह राशियों में बदलाव को समझता है, जिसके लिए कैलकुलस का गणित है। अगर राशियों में संयोग का पुट भी हो तो स्टैटिस्टिक्स यानी सांख्यिकी का इस्तेमाल करना होगा। संयोग से बचें तो आज कम्प्यूटर पर यह गणना तकरीबन एक सेकण्ड में की जा सकती है। इस एक सेकण्ड में मिले आँकड़ों से हम कुदरत में जीव-जगत में सन्तुलन को समझने की शुरुआत करते हैं। जटिल को समझने की शुरुआत सहज मॉडल के ज़रिए करना इन्सान की फितरत है। जैसे-जैसे हम सरल से जटिल की ओर बढ़ते हैं, गणना मुश्किल होती जाती है। एक अच्छा वैज्ञानिक इस बात को जानता है और अपने काम पर बात करते हुए वह पहले अपनी पूर्व-धारणाओं को बतलाता है। इन्सान की सामान्य सोच भी कुदरती तौर पर ऐसी ही होती है। इसलिए जिन्हें लगता है कि जटिल को सहज

संरचना में देखना मात्र ही विज्ञान है, वे वैज्ञानिक पद्धति को बिना जाने ही अनुमान लगा रहे होते हैं।

मॉडल बनाना विज्ञान का महत्वपूर्ण अंग है। भारत में कोरोना की बीमारी के आँकड़ों को देख सकते हैं। तरह-तरह के मॉडल सामने आए और इनके ज़रिए यह देखा गया कि लॉक-डाउन होने या न होने से क्या कुछ हो सकता है। ये वैज्ञानिक पद्धति के इस्तेमाल की बेहतरीन मिसाल थीं। इनके पीछे जो सोच है, उसे अक्सर वैज्ञानिक सोच कहते हैं।

वैज्ञानिक सोच

क्या वैज्ञानिक सोच या दृष्टि हमें अनुमान, अवलोकन, कुदरत के नियम से सिद्धान्तों तक की यात्रा पर ले चलती है? वैज्ञानिक सोच के बिना हम इस यात्रा में आगे नहीं बढ़ सकते, पर सोच ही पद्धति नहीं है। वैज्ञानिक खोज की प्रवृत्ति बुनियादी इन्सानी फितरत है, पर कोई सिद्धान्त तभी वैज्ञानिक कहलाता है, जब वह उन विशेषताओं पर खरा उतरे, जो वैज्ञानिक पद्धति के साथ जुड़ी हैं। दूसरी ओर यह भी होता है कि कोई अपने काम में सटीक वैज्ञानिक पद्धति का इस्तेमाल कर रहा है, पर वह वैज्ञानिक सोच को नहीं अपना पाया है। भारतीय वैज्ञानिकों में यह आम बात है। इसलिए उच्च-स्तरीय प्रशिक्षण और भरपूर सुविधाओं के बावजूद हमारा काम अक्सर पश्चिम में हो रहे शोध की नकल मात्र रह गया है। हमारे सामाजिक-राजनैतिक विचारों में पिछड़ापन भी इसी वजह से है।

आलोचना के कुछ और अहम बिन्दु

इन सबसे अलग कुछ बातें ऐसी हैं जो विज्ञान की संरचना से जुड़ी हैं। जैसे प्रयोग करते हुए किसी वस्तु या प्राणी से छेड़छाड़ किस हद तक हो, इसकी सीमा क्या हो। जीनोमिक्स-डी-एन-ए-टेक्नोलॉजी और नाभिकीय विकिरण आदि पर शोध के खतरनाक नतीजे हो सकते हैं। पेशेवर वैज्ञानिकों ने अपने लिए नैतिक मानदण्ड बनाए हैं, और राष्ट्रीय-अन्तर्राष्ट्रीय स्तर के कानून हैं, जो जन्तुओं पर हिंसा या किसी भी नुकसानदेह शोध पर रोक लगाते हैं। ये कानून किस हद तक लागू हों, यह स्थानीय लोगों पर निर्भर करता है। शोध के सवालों के चयन को लेकर भी समस्याएँ हैं। विज्ञान में सामुदायिक स्वीकृति अहम है, इसलिए उन सवालों पर ज़्यादा काम होता है, जिन्हें पश्चिमी मुल्कों के वैज्ञानिक अहमियत देते हैं। भारत में पचास साल पहले कैंसर की बीमारी पैसे वालों और यक्ष्मा (तपेदिक) गरीबों की बीमारी थी, पर शोध का ज़्यादातर काम कैंसर पर ही हो रहा था। प्रजनन और जन्म-निरोध पर स्त्रियों के साथ खतरनाक प्रयोग किए गए, जबकि पुरुष के जननांग जिस्म के बाहरी ओर होने से उन पर प्रयोग कहीं ज़्यादा आसान होता।

स्त्रीवादी आलोचना

गम्भीर स्त्रीवादी आलोचना पेशे में प्रतिनिधित्व के सवाल से आगे जाती है। शोध में सवालों के चयन और विज्ञान की भाषा आदि को लेकर सवाल उठाए जाते हैं। 1988 में *Hypatia* पत्रिका में Biology and Gender Study Group की ओर से आए एक लेख[1] में कहा गया:

"Biology is seen not merely as a privileged oppressor of women but as a co-victim of masculinist social assumption. We see feminist critique as one of the normative controls that any scientist must perform whenever analysing data ... Narratives of fertilisation and sex-determination traditionally have been modeled on the cultural patterns of male/female interaction, leading to gender associations being placed on cells and their components... masculinist assumptions have impoverished biology by causing us to focus on certain problems to the exclusion of others, and they have led us to make particular interpretations when equally valid alternatives were available."

"बायोलॉजी में महज़ स्त्रियों की प्रताड़ना की खासियत ही है, ऐसा नहीं, बल्कि एक विषय के रूप में बायोलॉजी अपने आप में पुरुष-प्रधान सामाजिक मान्यताओं का शिकार होने में भी भागीदार है। हर वैज्ञानिक को आँकड़ों का विश्लेषण करते हुए स्त्रीवादी आलोचना को एक शर्त की तरह ध्यान में रखना चाहिए। ... पारम्परिक रूप से निषेचन और लिंग-

[1] *Hypatia Vol. 3, No. 1, Spring, 1988, Feminism and Science, Wiley on behalf of Hypatia, Inc.*

जाँच के मॉडल स्त्री और पुरुष के बीच सांस्कृतिक टकराव के आधार पर बने हैं, जिसकी वजह से कोशिकाओं और उनके अन्दर के हिस्सों पर भी जेंडर की खासियत चस्पा कर दी गई है। ...पुरुष-प्रधान मान्यताओं की वजह से जीव-विज्ञान को यह नुकसान हुआ है कि हम कुछ सवालों को छोड़कर, कुछ पर गौर करते हैं, जिनसे खास किस्म के निचोड़ निकाले गए हैं, जब कि इतनी ही सही कुछ और वैकल्पिक समझ भी बन सकती थी।"

स्त्रीवादी आलोचना यह आग्रह रखती है कि वैज्ञानिक प्रयोगों को करते हुए जेंडर से जुड़े पूर्वाग्रहों पर सोचना और उनसे बचना या उनसे निजात पाना बा-कायदा ज़रूरी है, यानी इसे experimental control (प्रायोगिक नियंत्रण की शर्त) मानना ज़रूरी है। मसलन, यह आम सोच है कि प्रजनन में पुरुष के लाखों शुक्राणुओं में से कोई एक-दो स्त्री के गर्भाशय की नाल में अण्डाणु को निषेचित (fertilise) करते हैं। इसका वैकल्पिक विवरण यह हो सकता है कि स्त्री के गर्भाशय में अण्डाणु किसी एक-दो शुक्राणु को स्वीकार करता है। भाषा सत्ता-समीकरण को बदल देती है। पुरुष-प्रधान वैज्ञानिक समुदाय में पितृसत्ता हावी रहेगी, इसमें अचरज नहीं है। विज्ञान से मूल्य-निरपेक्ष होने की अपेक्षा है, जो मुमकिन नहीं लगती।

बात सिर्फ जेंडर की नहीं

मैंने इन बातों को गहराई से नहीं पढ़ा है, पर सतह से नीचे जाने की कोशिश की है। बात सिर्फ जेंडर की नहीं, बल्कि हर तरह के पूर्वाग्रहों के लिए यह सोचना ज़रूरी है। कुदरत के सच ढूँढ़ते हुए हम दरअसल अपने सच उजागर कर रहे होते हैं। सत्य की तलाश में हर तरह की सामाजिक पहचान के साथ लोहा लेना होगा। तो सवाल यह है कि क्या विज्ञान पढ़ने-पढ़ाने में कुदरत के कायदों के अलावा सामाजिक कायदों पर भी सवाल उठाने हैं। यानी प्रकृति-विज्ञान और समाज-विज्ञान को एक-दूसरे से अलग नहीं कर सकते। इस प्रसंग में चुनिन्दा दो बातें रख रहा हूँ जो बेचैनी की सबब रही हैं।

भाषा का मुद्दा

एक बात जो बहुत पहले ही साफ दिखने लगी थी, वह भाषा से जुड़ी है। होविशिका की किताबों, यानी बाल-वैज्ञानिक, में भाषा को आसान रखने की पूरी कोशिश थी, पर हिन्दी में लिखी विज्ञान की दीगर किताबों में विज्ञान की भाषा जटिल थी और आज भी है। शायद 1988 में मैंने ज्ञानरंजन को लिखा कि हिन्दी में विज्ञान-लेखन की भाषा हिन्दी भाषियों के खिलाफ षड़यंत्र है। इसके बाद जब भी मौका मिला है, लगातार इस बारे में मैं कहता रहा हूँ। होविशिका में काम कर रहे साथियों के साथ भी

चर्चाएँ हुई हैं। यह माँग कि विज्ञान की एक मानक शब्दावली होनी चाहिए - यह बात मुझे तंग करती रही है। इसके पीछे समझ यह है कि यूरोपी ज़बानों में विज्ञान की तरक्की के साथ मानक भाषा बनती चली थी। यह बात सच है, पर एक तरह का अर्द्ध-सत्य है। नवजागरण में पहला हमला भाषा पर हुआ था। धर्म और दर्शन की किताबों को जनता की भाषा में लिखने की माँग थी। गौर कीजिए कि हमारे यहाँ भी भक्ति आन्दोलन पण्डितों की भाषा में नहीं हुआ था - फरीद, वासक्ना से लेकर कबीर, नानक, लालन तक – यह हमेशा ही जनता की भाषा में हुआ था। पश्चिम में विज्ञान की भाषा लगातार सरल और सहज होती रही है। इसके उलट हमारे यहाँ पिछले डेढ़ सौ सालों में कृत्रिम संस्कृतनिष्ठ शब्दावली गढ़ी गई।

पिछली सदी के बड़े वैज्ञानिकों में से एक रिचर्ड फाइनमैन ने छोटे बच्चों को विज्ञान सिखाने की भाषा के मुद्दे पर कहा है कि शब्द सीखना ज़रूरी है, पर पहले हमें विज्ञान सीखना है। चाबी घुमाने पर खिलौना क्यों चलता है, इसके जवाब में 'एनर्जी' शब्द पर प्रतिक्रिया देते हुए वे कहते हैं कि आप तो यह कह दो कि खुदा खिलौना चला रहा है। हिन्दुस्तानी ज़बानों में विज्ञान की

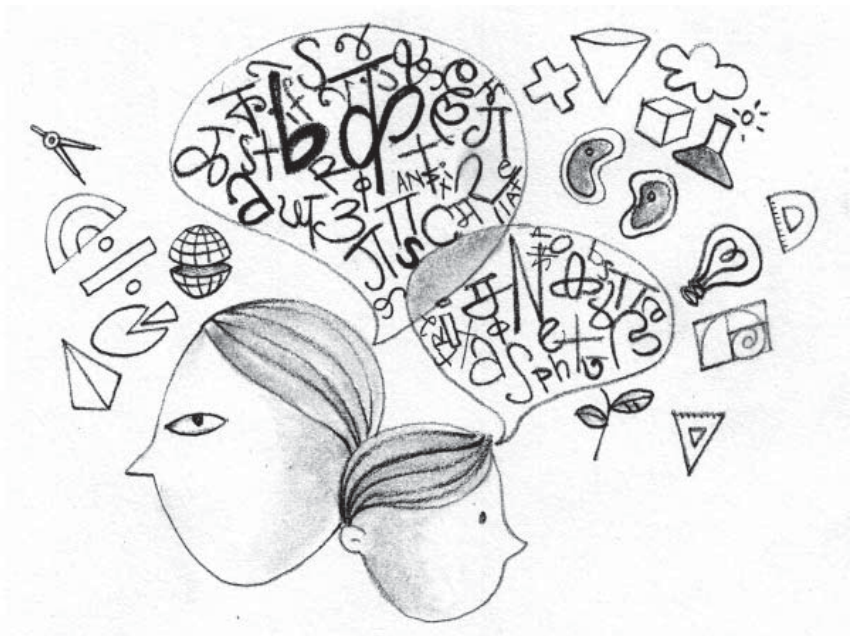

शब्दावली को आप मज़ाक कह सकते हैं या एक खौफनाक सपना। किसी ज़बान को कत्ल करने का इससे बेहतर कोई तरीका नहीं हो सकता है। मेरी सीमित समझ यह है कि विज्ञान पढ़ाते हुए हमें अपनी तमाम ज़िन्दा ज़बानों में मौजूद तकनीकी शब्दावली को वापस ढूँढ़ लाना, साथ-साथ करना होगा।

आलोचनात्मक सोच?

दूसरी बेचैनी यह सवाल है कि विज्ञान की पढ़ाई से आलोचनात्मक सोच किस हद तक बढ़ी है। मसलन, मेर्टन के विवरण मुताबिक सार्वभौमिकता की कोई समझ हममें बनी है क्या? भारतीय मूल के किसी अमेरिकन वैज्ञानिक की कामयाबी पर हम उसके विज्ञान पर कम और उसके भारतीय मूल के होने पर ज़्यादा शोर मचाते हैं। दक्षिण एशिया में देश और परम्परा के नाम पर हमें कोई भी बहका सकता है। देशभक्ति के नाम पर सियासी लुटेरे जो कहर बरपा रहे हैं, क्या विज्ञान का इससे कोई लेना-देना नहीं है? देश और देशभक्ति पर पंजाबी के दलित कवि लाल सिंह दिल की कविता 'मातृभूमि' याद आती है (अनुवाद - सत्यपाल सहगल) -

प्यार का भी कोई कारण होता है?
महक की कोई जड़ होती है?
सच का हो न हो मकसद कोई
झूठ कभी बेमकसद नहीं होता!

तुम्हारे नीले पहाड़ों के लिए नहीं
न नीले पानियों के लिए
यदि ये बूढ़ी माँ के बालों की तरह
सफेद-रंग भी होते
तब भी मैं तुझे प्यार करता
न होते तब भी
मैं तुझे प्यार करता
ये दौलतों के खज़ाने मेरे लिए तो नहीं
चाहे नहीं
प्यार का कोई कारण नहीं होता
झूठ कभी बेमकसद नहीं होता

खज़ानों के साँप
तेरे गीत गाते हैं
सोने की चिड़िया कहते हैं।

लाल सिंह दिल वैज्ञानिक नहीं थे, पर देशभक्ति पर आलोचनात्मक सोच उनमें थी, जो वैज्ञानिकों में नहीं दिखती।

पिछले कई दशकों से धरती पर तरह-तरह के संकट छाए हुए हैं, जिनकी एक बड़ी वजह बड़े पैमाने पर जंगी असलाह का व्यापार और चारों ओर बढ़ता फौज-तंत्र है। क्या विज्ञान इस बारे में आलोचनात्मक ढंग से सोचने की काबिलियत पैदा करता है? पिछली सदी में जंगें और मुनाफाखोरी ने विज्ञान की दिशा तय करने में बड़ी भूमिका दिखलाई है, जैसे इनकी वजह से नाभिकीय ऊर्जा, सूचना के विज्ञान और आधुनिक दवाओं के उत्पादन आदि जैसे विषयों

में बड़ी तरक्की हुई है। यह केवल टेक्नोलॉजी की बात नहीं है, बुनियादी विज्ञान में बड़ी तरक्की सामाजिक ताकतों की घुसपैठ से हुई है। आज जंगें लड़ने वाले दफ्तरी क्लर्कों जैसे शख्स हैं, जो धरती के एक छोर पर बैठे, विशाल भौगोलिक और मनोवैज्ञानिक दूरियाँ लाँघकर धरती के दूसरे छोर पर, ड्रोन और लेज़र की मदद से precision killing यानी ऐन निशाने के कत्ल करते हैं, जिनमें अक्सर गलतियाँ होती हैं और आम नागरिक मारे जाते हैं। क्या विज्ञान पढ़ते-पढ़ाते हुए हम इन बातों को नज़रअन्दाज़ कर सकते हैं?

मेरी बेचैनी

मैं अक्सर सोचता हूँ कि 1988 में हरदा में मेरे अन्दर जो चीखता था कि दीवारों पर लिखे फतवे कि 'हिन्दुस्तान में रहना है' तो कैसे रहना होगा, गलत हैं, वह शख्स कैसे सामने आता? मेरी ट्रेनिंग मुझे बतलाती है कि नहीं, विज्ञान के साथ इसका कोई लेना-देना नहीं है कि आप विक्षिप्त हो रहे हैं, या कि आप आसपास विक्षिप्त हो रहे समाज से परेशान हैं। तो आखिर हमारा मकसद क्या था, क्या वह महज़ एक कीट के जीवन-चक्र को समझने का था, या कि संयोग और सम्भाविता के अध्याय से प्रेरित होकर बेंगलूरू की विज्ञान अकादमी की पत्रिका में एक परचा लिखने तक का था? मैं जनविज्ञान में सक्रिय दीगर संस्थाओं के साथ जुड़ा रहा हूँ। अक्सर मीटिंग में सवाल उठाता हूँ कि हमारे बीच स्त्रियों या हाशिए पर खड़े दूसरे तबकों के लोगों की तादाद कम है। बात चलती है तो हर कोई कहता है कि हमें इस हाल को सुधारना है, मैं नाम पेश करता हूँ जिनसे हमें बात करनी चाहिए और साथ लाना चाहिए, कोई ना नहीं कहता, पर पाँच साल, छ: साल गुज़र जाते हैं और कुछ नहीं होता। आखिर मैं चुप कर जाता हूँ। यह विज्ञान का सवाल नहीं है, पर ऐसा है तो मैं विज्ञान या जन-विज्ञान से जुड़कर क्या कर रहा हूँ? मुझे ये सवाल बेचैन करते हैं। इसका पारम्परिक जवाब यह है कि विज्ञान और समाज, दो अलग खित्ते हैं, जैसे आधुनिक विज्ञान और मज़हब, दो अलग खित्ते हैं, जिनको जबरन जोड़ने की नाकामयाब कोशिश में विपुल परिमाण कागज़ खपाया गया है।

विज्ञान जन-संघर्ष नहीं है। मुमकिन है कि जनविज्ञान आन्दोलन में सामाजिक पूर्वाग्रहों की समझ और उनसे बचने के सवाल को भी विज्ञान-कर्म की सावधानियों में से एक माना जाता तो हम पाठचर्या और पाठ्यक्रम में खास बदलाव देख पाते, जो हमें आसपास हो रही सामाजिक घटनाओं के बारे में कुछ कहते - क्या कहते, यह तो नहीं कहा जा सकता, पर कुछ कहते। मैं ठीक नहीं जानता कि

वह कैसे बदलाव होते, क्योंकि मैं अपनी ट्रेनिंग की वजह से पारम्परिक सोच में कैद हूँ। यह ज़रूर है कि इंकलाबी समाजों में विज्ञान और दीगर पेशों में स्त्रियों की भागीदारी बढ़ी है, जैसा न केवल क्यूबा या इंकलाबी रूस या चीन में देखा गया है, बल्कि ईराक, लीबिया, सीरिया तक में हुआ है, जिन्हें हाल के दशकों में अमेरिकी साम्राज्यवादी हमलों ने तबाह कर दिया है। क्यूबा के बारे में जग-ज़ाहिर है कि सेहत के खित्ते में उस छोटे मुल्क ने कमाल की तरक्की हासिल की है। पश्चिमी मुल्कों में पिछले दशकों में यह समझ पुख्ता हुई है कि विविधता से सामूहिक काबिलियत और उत्पादन, दोनों में बढ़त आती है। आज सुबह ही मैंने American Institute of Physics की पत्रिका *Physics Today* में थोमास दुराकीविक्ज़ के एक लेख में ये पंक्तियाँ पढ़ीं -

'Diversity is the source of rich, vibrant, and fruitful discussion, a cornerstone of modern science. Only through bringing together and connecting researchers from different backgrounds, cultures, disciplines, and views can we make progress.'[2]

'विविधता से गहन, जोशीली और मानीखेज़ चर्चाएँ मुमकिन हो पाती हैं जो आधुनिक विज्ञान की बुनियाद है। अलग-अलग पृष्ठभूमि, संस्कृति, विधाओं से और भिन्न नज़रिए वाले शोधकर्ताओं को इकट्ठा कर और उन्हें जोड़कर ही हम तरक्की कर पाएँगे।'

अकादमिक पत्रिकाओं में छपे ऐसे दर्जनों आलेख आपको इंटरनेट पर दिख जाएँगे।

विज्ञान का औचित्य

वापस विज्ञान के औचित्य पर आते हैं। जिन संकटों से हम गुज़र रहे हैं, उनके मद्दे-नज़र यह सोचना ज़रूरी है कि अगर विज्ञान के साथ इन बातों का लेना-देना नहीं है, तो क्या विज्ञान का कोई औचित्य भी है? कुदरत और कुदरत के साथ हमारे रिश्ते पर मनन सुन्दर है, एक तरह का गहन अध्यात्म है, पर कुदरत तब तक मानीखेज़ है, जब तक हम ज़िन्दा हैं। Cogito ergo sum – संज्ञान में आती बातों से ही मेरा वजूद है। देकार्त का कालजयी कथन आधुनिक विज्ञान की शुरुआत है। इसलिए जो संकट हमारे जीवन के लिए खतरनाक हैं या अगर हम ज़िन्दा रह भी गए तो इन संकटों के साथ कैसी ज़िन्दगी जी रहे हैं हम, जहाँ हमारे दिलों से मोहब्बत खत्म हो रही है और नफरत के सौदागर हमें अपना गुलाम बना रहे हैं। फिर से सोचता हूँ कि हमें conceptual छलाँगें मारनी होंगी। क्या हम ये छलाँगें ले पा रहे हैं? क्या हमारी पहचान हमें ऐसा करने देती है?

[2] Tomasz Durakiewicz, Physics Today 75, 11, 10 (2022)

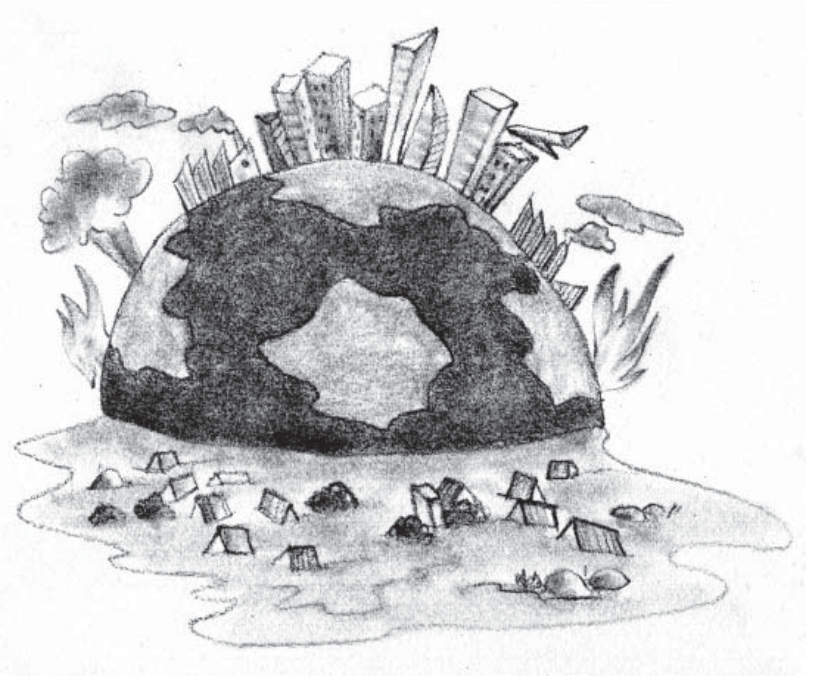

ढाई आखर प्रेम

जो अँधेरा ज्ञान से ही उपजता है, वह घमण्ड जो हर ज्ञानी में दिखलाई पड़ता है, उससे हम कैसे बचें? अक्सर वैचारिक मतभेद की वजह से हम अलग रास्तों पर चल रहे होते हैं, पर गौर करें तो पाएँगे कि ये मतभेद सचमुच इतने गहरे होते नहीं हैं कि वे हमें साथ काम करते रहने से विमुख करें। जिन कारणों से हम साथ काम नहीं कर पाते, वे अक्सर निजी अहम् या रिश्तों की जटिलताओं से उपजे होते हैं। जो ज्ञान हमें बेहतर इन्सान न बनाए, जो अपने और दूसरों के जीवन में बेहतरी न लाए, उसका फायदा क्या! इसलिए लड़ाई सिर्फ औरों से नहीं, खुद से भी लड़नी है। गुरूदेव रवींद्र से सीखता हूँ - *आमि कान पेते रोई, ओगो आमार आपोन हृदयेर गहोनो द्वारे कान पेते रोई* - मैं एहसास जगाए रखे हूँ, अपनी रूह की गहराइयों के दर, एहसास जगाए रखे हूँ। बुल्ले शाह को सुनता हूँ - *पढ़-पढ़ इल्म हज़ार किताबां, कदे अपने आप नूँ पढ़ेया ई नईं।* उनसे पहले कबीर कह गए कि *ढाई आखर प्रेम का...*। इस ढाई आखर को पाने का कोई स्रोत नहीं है, इसे

खुद ही अपने अन्दर पाना होता है।

सवालों के बिखराव में भी कुछ सुन्दर हमेशा साथ रहता है - जो मुझे वापस विज्ञान की ओर ले आता है; आइन्स्टाइन का हर कहीं मिलता कथन, इसी से अपनी बात खत्म करता हूँ - 'अपनी पूरी ज़िन्दगी में मैंने एक बात जानी है: हकीकत के बरक्स सारा विज्ञान-कर्म बचकाना और पिछड़ा दिखता है - पर हमारे पास इससे ज़्यादा अहम कुछ भी नहीं है'।[3]

है, कुछ और अहम है। इसके बाद जो निरभय गायन है, वह अहम है। अहम है, क्योंकि वह उस मीमांसा तक हमें ले जाता है, जो अमन और मोहब्बत का विज्ञान है।

[3] One thing I have learned in a long life: all our science, measured against reality, is primitive and childlike - and yet it is the most precious thing we have. - Albert Einstein

हरजिन्दर सिंह 'लाल्टू': सेंटर फॉर कम्प्यूटेशनल नेचुरल साइंस एंड बायोइन्फॉर्मेटिक्स, आई.आई.आई.टी., हैदराबाद में प्रोफेसर। प्रिंसटन यूनिवर्सिटी, न्यू यॉर्क, यूएसए से पीएच.डी.। सन् 1987-88 में *एकलव्य* के साथ यूजीसी द्वारा स्पेशल टीचर फैलोशिप पर हरदा में रहे। आप हिन्दी में कविता-कहानियाँ भी लिखते हैं।

सभी चित्र: सौम्या मैनन: चित्रकार एवं एनिमेशन फिल्मकार। विभिन्न प्रकाशकों के बच्चों की किताबों एवं पत्रिकाओं के लिए चित्र बनाए हैं। बच्चों के साथ काम करना पसन्द करती हैं।

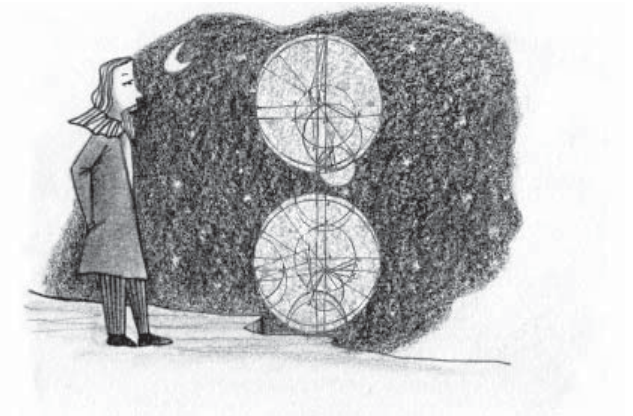

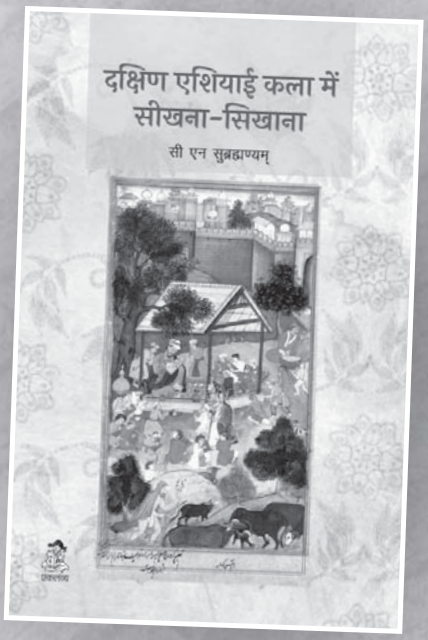

दक्षिण एशियाई कला में
सीखना-सिखाना
सी एन सुब्रह्मण्यम्

इस किताब में चित्रकला व शिल्पकला के प्राचीन, मध्ययुगीन व आधुनिक दौर के नमूनों में शिक्षा के अलग-अलग आयामों का जो रूप देखने को मिलता है, उसकी चर्चा की गई है।

आसान भाषा में लिखी यह किताब न सिर्फ शिक्षा व इतिहास के विद्यार्थियों और शिक्षकों के लिए बल्कि आम पाठकों के लिए भी उपयोगी साबित होगी।

अपनी ऑर्डर लिस्ट में शामिल करें।

अधिक जानकारी के लिए सम्पर्क करें -
फोनः +91 755 297 7770-71-72
वेबसाइटः www.eklavya.in; ईमेलः pitara@eklavya.in
ऑनलाइन ऑर्डर करने के लिएः www.eklavyabooks.in

एकलव्य

प्रियांशी मेला नाम...!

शलाका गायकवाड

हम वयस्क जब कभी छोटे बच्चों को पेन या फिर पेंसिल के साथ देखते हैं तो लगता है कि उन्हें कुछ लिखने के लिए कहें। हम यह बिलकुल भी नहीं सोचते कि बच्चे की लेखन के लिए किस हद तक तैयारी हो चुकी है। लेकिन जब वो नन्हा-सा, बच्चा कुछ लिखकर दिखाता है, तो हम झट-से कह देते हैं कि 'तुम्हें तो लिखना ही नहीं आता' या फिर बोलते हैं, 'ये क्या लिख दिया'। आम तौर पर हमारा यह भी अनुभव रहा है कि छोटे बच्चे पेन या पेंसिल, जो चीज़ दिखे, उसे उठाकर दीवार पर चलाने लगते हैं। यह देखकर हम उन्हें डाँटने-फटकारने लग जाते हैं, "लिखना तो कुछ नहीं आता, बस दीवार खराब कर रहे हो।" हम यह अनदेखा कर देते हैं कि बच्चा स्वतंत्र रूप से कुछ लिखने का प्रयास कर रहा है। बच्चों के लेखन के सम्बन्ध में एक अनुभव यहाँ साझा कर रही हूँ।

मैं हूँ प्रियांशी

प्रियांशी के बारे में जो भी कहूँ वो कम ही लगता है। प्रियांशी अपने मम्मी, पापा, भाई और बहनों के साथ होशंगाबाद यानी नर्मदापुरम ज़िले की बाबई तहसील के एक गाँव पनवासा में रहती है। प्रियांशी के पापा 8वीं कक्षा तक पढ़े हैं और अभी वे मिस्त्री का काम करते हैं, साथ ही, ऑटो रिक्शा चलाते हैं। उसकी माँ ने स्कूली शिक्षा ग्रहण नहीं की। वे एक गृहिणी हैं और कभी-कभी वे लोगों के खेत में धान लगाने के लिए जाती हैं। प्रियांशी की तीन बहनें हैं और एक भाई है। उसकी सबसे बड़ी बहन का नाम दुर्गा है, फिर है नीतू और उसकी छोटी बहन का नाम माही है। वह अपने मम्मी-पापा की तीसरी सन्तान है। चारों बहनों के बाद है प्रियांशी का छोटा भाई दिव्यांश, जो एक साल का है। प्रियांशी बहुत ही नटखट, चुलबुली और प्यारी है। वह किसी अंजान व्यक्ति से बात करने से बिलकुल नहीं डरती। वैसे वो बहुत ही कम बात करती है लेकिन उसकी आवाज़ बहुत ही मधुर और सुरीली है। उससे बात करूँ तो ऐसा लगता है कि पूरे दिन उससे ही बात करती रहूँ। वो खुद से होकर कोई भी बात शुरू नहीं करती, बस हमारे पूछे गए सवालों का जवाब देती है। प्रियांशी की हर एक बात मेरे मन को भाती है। भले ही वह कम बोलती है, मुझे उसके बोलने का

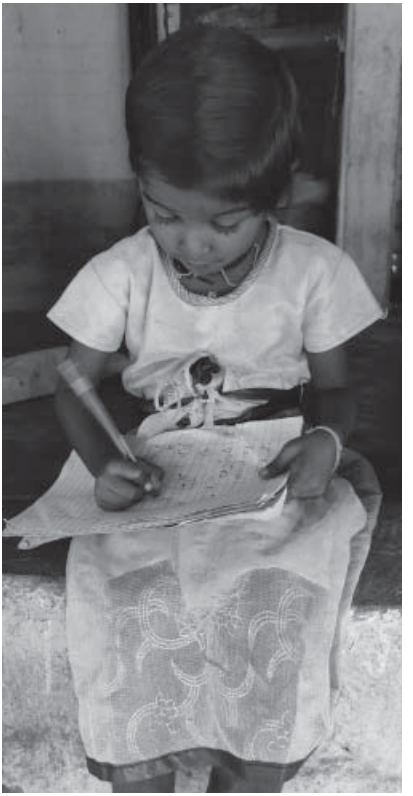

तरीका पसन्द है जिसके कारण मुझे उसके बारे में, उसके बोलने, पढ़ने, लिखने के तरीकों के बारे में जानने में दिलचस्पी हुई। जब भी मैं प्रियांशी से मिली, मैंने उसके लिखने के नए तरीके को देखा और उन तरीकों में एक सह-सम्बन्ध देखा। आईए, देखते हैं प्रियांशी का लिखने का यह सफर।

लिखने का सफर

कोविड-19 महामारी के चलते शालाएँ बन्द हो गई थीं। कोविड की पाबन्दियाँ हटने के साथ-साथ शैक्षिक गतिविधियों को पुनः व्यवस्थित करने का विचार करते हुए *एकलव्य* ने एक ऐसे स्थान की कल्पना की थी - जहाँ बच्चे 'करके सीखते हैं', 'पर्यावरण से सीखते हैं' और 'एक-दूसरे से भी सीखते हैं'। इस कल्पना को साकार करने के लिए कोविड के प्रोटोकॉल को ध्यान में रखते हुए गाँव में मोहल्ला लर्निंग सेंटर शुरू किए गए जिनके संचालन की ज़िम्मेदारी गाँव के ही किसी युवा को दी जाती है। ऐसा ही एक मोहल्ला लर्निंग सेंटर गाँव पनवासा में भी शुरू किया गया। इस सेंटर को विगत डेढ़-दो साल से संजना अहिरवार संचालित कर रही हैं। प्रियांशी संजना के चचेरे भाई की बेटी है। जब सेंटर शुरू हुआ था तब प्रियांशी लगभग ढाई बरस की रही होगी। यूँ तो वो उम्र के लिहाज़ से छोटी थी लेकिन फिर भी अपनी बड़ी बहनों के साथ सेंटर पर नियमित रूप से आने लगी थी। प्रियांशी केन्द्र के सभी बच्चों को देख-देखकर लिखना सीख रही है। जब मैंने उससे बात की तो उसने अपना नाम 'प्लियांशी' बताया। मैंने उससे पूछा, "क्या तुम्हें अपना नाम लिखना आता है?" उसने कहा, "हाँ, मुदे आता है।"

फिर उसने अपना नाम नोटबुक में लिखकर दिखाया। जब मैंने उसकी लिखावट देखी तो काफी अचम्भित हुई। मैंने उससे पूछा, "यह क्या लिखा

है, बेटा?" उसने बताया, "यह प्लियांशी लित्ता है।" मैंने फिर उससे पूछा, "क्या प्रियांशी ऐसे लिखते हैं?" उसने बड़े ही आत्मविश्वास से 'हाँ' बोला। उसका आत्मविश्वास देखकर में भौंचक्का रह गई। उसके लिखने के तरीके को देखकर मेरा मन बहुत खुश हुआ। मैं इस सोच में पड़ गई कि क्यों मैं अपना नाम किसी और तरीके से सोच नहीं पाती या लिख नहीं पाती। जो मैंने बचपन से पाठशाला में सीखा है, बस उसी तरीके से क्यों लिखती हूँ? क्यों मैंने अपनी सोच को एक बक्से के अन्दर ही समेटकर रखा है? क्यों मैंने अपने अनोखे लिखने के तरीके को परम्परागत पद्धति के नीचे दबाकर रखा है? क्यों मैं प्रियांशी की तरह अपना नाम अपने मन से नहीं लिख सकती? फिर ऐसे लगा कि हाँ, शायद मैंने भी अपने बचपन में कुछ इसी तरह से लिखा होगा। और शायद सभी बच्चे लिखने के शुरुआती दौर में ऐसे ही लिखते होंगे। लेकिन कभी किसी ने गौर नहीं किया होगा। लेकिन मेरी नज़र में यह सीखने का एक सबसे अच्छा मौका था जो मैं गँवाना नहीं चाहती थी। इसीलिए मैंने प्रियांशी के साथ अपनी बातचीत जारी रखी।

जैसे-जैसे उससे बात कर रही थी वैसे-वैसे मन में एक खुशी और चेहरे पर मुस्कान आ रही थी। उसने अपनी दोनों बहनों का नाम भी नोटबुक में लिखकर दिखाया। 'कौन-सा नाम नीतू है और कौन-सा दुर्गा' पूछने पर उसने झट-से उँगली रखकर दिखाया। फिर मैंने उसे 'आम' लिखने को कहा। उसने आम में 'अ' लिखा और उसके आगे अपनी अनोखी लिपि में 'म' लिखा। फिर मैंने उससे पूछा, "आपका मनपसन्द फल कौन-सा है?" उसने बताया, "अन्दूर।" मैंने पूछा, " 'अंगूर' लिखना आता है?" उसने 'हाँ' में जवाब दिया और अपनी

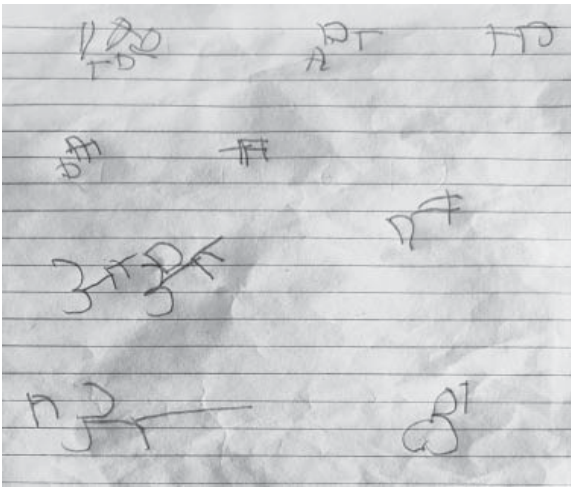

चित्र-1: *प्रियांशी द्वारा लिखे हुए शब्द। (ऊपर बाएँ से) - प्रियांशी, पार्वती (माता का नाम), प्रकाश (पिता का नाम), दुर्गा, नीतू, कक्षा ३, आम, अंगूर।*

नोटबुक में लिखकर दिखाया। इसमें भी वही हुआ जो 'आम' लिखने में हुआ था। उसने 'अंगूर' का 'अ' लिखा और उसके आगे अपनी अनोखी लिपि में 'गूर' लिखा। इससे यह समझ में आया कि वह बारहखड़ी में से 'अ' लिखना सीख गई है। फिर थोड़ी और बातचीत के बाद उसने अपने माता-पिता का नाम लिखकर दिखाया, वो भी अपनी अनोखी लिपि में। मैंने उससे उसकी कक्षा पूछी तो उसने एक सेकण्ड के भीतर 'तीसरी कक्षा' बोला और लिखकर भी दिखाया (हालाँकि उसका अभी शाला में नामांकन भी नहीं हुआ है)।

फिर मैंने सोचा, प्रियांशी को कुछ लिखकर देते हैं और फिर उसे देखकर लिखने को कहते हैं। मैंने उसे उसका और उसकी बहनों का नाम लिखकर दिया और कहा, "इसे देखकर लिखो।" उसने अपनी नोटबुक मुझसे ली और लिखने में जुट गई। वह बहुत ही एकाग्रता से लिख रही थी। मुझे लगा कि जैसा मैंने लिखकर दिया है, वह ठीक वैसा ही लिखेगी। इस बार भी उसने प्रियांशी, नीतू और दुर्गा अपनी अनोखी लिपि में ही लिखा था। यह देखकर फिर से मन खुश हुआ क्योंकि उसने अपने लिखने के तरीके को नहीं बदला।

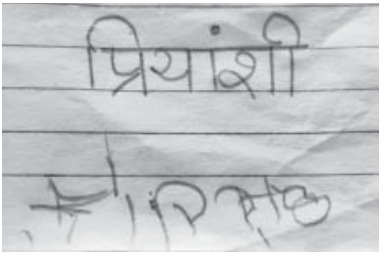

चित्र-2: *प्रियांशी को कुछ नाम लिखकर दिए गए जिन्हें देखकर उसे भी वे नाम लिखने थे। प्रियांशी ने वे नाम कुछ इस तरह लिखे।*

सफर की सीढ़ियाँ

लगभग एक महीने बाद फिर प्रियांशी से मुलाकात हुई। इस बीच प्रियांशी का मोहल्ला गतिविधि केन्द्र पर आना कभी कम नहीं हुआ। वह रोज़ केन्द्र पर आकर, सभी बच्चों के साथ सीखने-सिखाने की गतिविधि में जुड़ी रही। सेंटर का संचालन करने वाली संजना की शादी होने के बाद,

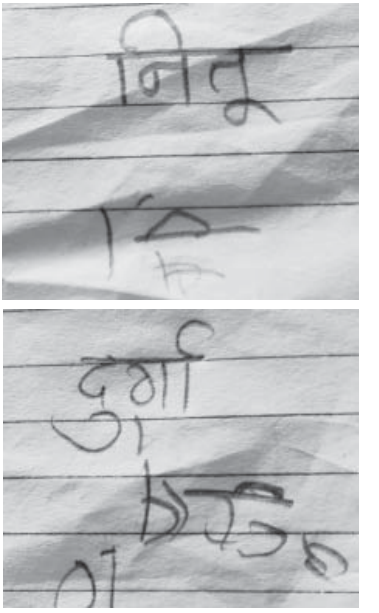

अब शिवानी इस केन्द्र को चलाने लगी थी। शिवानी ने प्रियांशी के साथ बातचीत की, उसे उसका और उसके माता-पिता का नाम हिन्दी में लिखना सिखाया। साथ ही, उसने अँग्रेज़ी के वर्ण भी प्रियांशी को सिखाए। प्रियांशी द्वारा हिन्दी भाषा के लिखने के तरीकों को देखकर यह समझ आया कि उसे स्वर और व्यंजन थोड़े-थोड़े लिखने आते हैं लेकिन जब मात्रा आती है तब वह गड़बड़ा जाती है। ऐसा शायद इसीलिए होगा क्योंकि उसके हाथ की माँसपेशियाँ अभी सध नहीं सकी हैं। अँग्रेज़ी भाषा में भी वह अपना नाम लिखना सीख रही है। लेकिन अँग्रेज़ी में वह कुछ वर्णों के मिरर इमेज लिख रही है, जैसे उसने अपने नाम में 's' को उल्टा लिखा है। लेकिन जिस गति से वह लिखना सीख रही है, वह काबिल-ए-तारीफ है।

इस पूरे अनुभव को फिर से याद करती हूँ तो मुझे रमाकांत अग्निहोत्री जी की कही एक बात याद आती है जो उन्होंने *शैक्षिक संदर्भ* (अंक-28, जुलाई-अगस्त, 1999) में 'बच्चों की भाषा सीखने की क्षमता' लेख में कही थी कि 'सीखने की मुख्यतः दो शर्ते हैं - बच्चे की क्षमताओं पर आस्था व बच्चे के लिए रुचिकर वातावरण का निर्माण' जो बिलकुल सही हैं। यदि हम बच्चों की क्षमताओं पर भरोसा नहीं रखेंगे तो हम उनके सीखने की प्रक्रिया को खारिज कर अपने तरीके उन पर थोपते रह जाएँगे। हम वयस्कों को उनकी क्षमताओं का इस्तेमाल कर, उन्हें आगे ले जाना होगा। साथ-ही-साथ उन्हें रुचिकर वातावरण देकर हम उनके साथ दोस्ती बढ़ा सकते हैं और फिर उन्हें सीखने-सिखाने की प्रक्रिया में जोड़ सकते हैं।

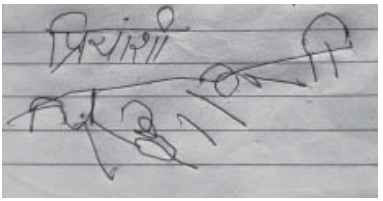

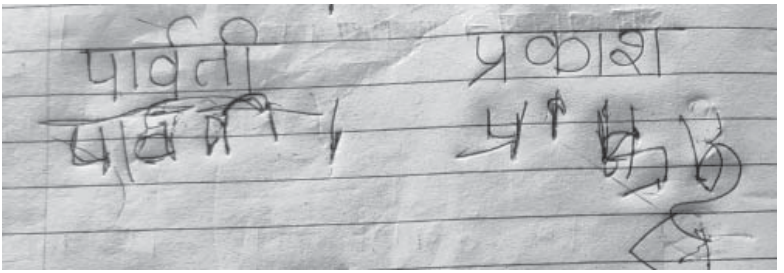

चित्र-3: *प्रियांशी ने अपना और अपने माता-पिता का नाम लिखा।*

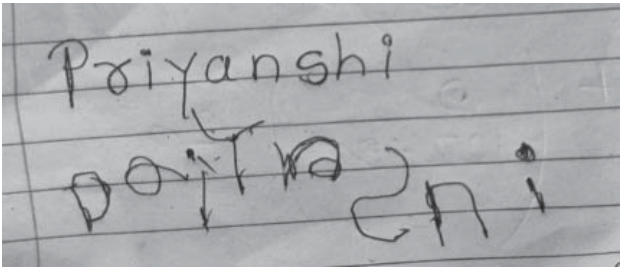

चित्र-4: *प्रियांशी ने अँग्रेज़ी में अपना नाम लिखा।*

आभार: यह अनुभव लिखने में शिखा, प्रदीप जी, ज़िया जी, रामभरोस जी और माधव जी ने मेरी मदद की है। मैं तहे-दिल से इन सभी का शुक्रिया अदा करती हूँ।

शलाका गायकवाड: *एकलव्य* की आश्रमशाला विज्ञान पहल, महाराष्ट्र में काम करने के बाद अब होशंगाबाद ज़िले के बाबई ब्लॉक में भाषा, गणित, विज्ञान और डिजिटल माध्यम से सीखने-सिखाने की प्रक्रिया पर काम कर रही हैं। बच्चों के साथ वक्त बिताना और उनसे जुड़े अनुभव लिखना पसन्द है। चित्रकारी और फोटोग्राफी में दिलचस्पी।

सभी फोटो: शलाका गायकवाड।

– – — – — –

लकीरों से लिपि की ओर

आम तौर पर बच्चों के भाषा सीखने से यही आशय लगाया जाता है कि बच्चा बोलना, पढ़ना और लिखना सीख लेगा। ऐसा भी माना जाता है कि इसी क्रम में वो सीखेगा। लेकिन बच्चे इसी क्रम में भाषाई विकास करेंगे, ऐसा तय नहीं है। बच्चे पढ़ना और लिखना एक साथ भी सीख सकते हैं। इसी तरह भाषाई विकास के विविध चरणों में बच्चे कितना समय बिताएँगे, इसका भी कोई सामान्य गणित नहीं है। हर बच्चे के लिए यह अवधि फर्क हो सकती है।

यह सब सुनकर आपको अटपटा लग सकता है कि कुछ भी निश्चित नहीं, ऐसा कैसे हो सकता है। क्या कोई बच्चा दो साल में और कोई बच्चा पाँच साल की उम्र में साक्षर हो सकता है? तो जवाब है 'शायद हाँ'। पिछले कुछ समय से एक नया परिप्रेक्ष्य प्रमुखता से चर्चा में है - इमरजेंट लिटरेसी या उभरती साक्षरता। इसके मुताबिक यदि बच्चों के आसपास पर्याप्त व सहज रूप से प्रिंट सामग्री मौजूद हो, बच्चे किसी को अखबार पढ़ते, किसी को कुछ गिनते, किसी को कुछ लिखते देख रहे हों तो वे भी किताब को सही

तरीके से पकड़ना, शब्दों को देखना, तस्वीरों को देखना, कहाँ से पढ़ना शुरू करना है, ऐसी कई बारीकियों को समझने लगते हैं। इसे भी पढ़ने-लिखने की शुरुआत के रूप में ही देखना चाहिए। इमरजेंट लिटरेसी पढ़ने-लिखने को सिर्फ अक्षरों-शब्दों को सही लिखने या सही उच्चारित करने से भी आगे जाकर देखती है।

चलिए, अपने मुद्दे पर लौटते हैं।

हम सबने बच्चों को आड़ी-तिरछी लकीरों को खींचने से लेकर किसी लिपि में कुछ अक्षर लिखते हुए देखा ही है। सुविधा के लिए हम इन्हें - लेखन पूर्व अवस्था, उभरती लेखन अवस्था, ट्रांज़िशन अवस्था और धारा प्रवाह लेखन अवस्था - जैसी विकासात्मक अवस्थाओं में बाँटकर देख सकते हैं। हालाँकि, बच्चों की ये क्षमताएँ उनकी मौखिक भाषा से भी जुड़ी हुई हैं।

प्रियांशी के अनुभव वाले लेख में हमारा सरोकार पहली दो अवस्थाओं से ज़्यादा है इसलिए इन अवस्थाओं के बारे में कुछ जानते हैं।

लेखन पूर्व अवस्था – इस अवस्था में बच्चे, उन्हें दिए गए चॉक, पेंसिल, क्रेयॉन, गेरू या कोयले के टुकड़े हथेली या अंगुलियों में पकड़कर कुछ आड़ी-तिरछी रेखाएँ खींचते हैं। कभी-कभी कुछ आकार भी बना लेते हैं। इसे गोदागादी या स्क्रिबलिंग (scribbling) भी कहा जाता है। इस अवस्था में बनाए आकारों या लकीरों के बारे में बच्चों से बातचीत ज़रूर करनी चाहिए कि उन्होंने क्या बनाया है या क्या बताना चाहते थे। हो सकता है जिसे हम बिना आकार मान रहे हैं, उसे बच्चा बताए कि 'मैं खेल रहा हूँ' या 'मैं हँस रहा हूँ' या 'मैं खुश हूँ'। यानी लकीरें अपने आप में किसी आकार या उस दृश्य को भले ही न बता पा रही हों लेकिन बच्चा इनसे कुछ अभिव्यक्त करना चाहता था। कभी-कभी बच्चा जो स्क्रिबल करता है वो ऐसा भी लगता है कि मानो कोई लिपि लिखने का प्रयास कर रहा हो। कुछ अक्षर जैसे भी दिखेंगे, लेकिन हो सकता है कि बच्चे ने अक्षर लिखने का कोई प्रयास ही न किया हो।

उभरती लेखन अवस्था – इस अवस्था में बच्चों ने क्रेयॉन, पेंसिल आदि की मदद से उचित दबाव डालकर कागज़ पर लकीरें खींचना सीख लिया है। वे ध्वनियाँ सुनकर अक्षर बनाने की कोशिश करने लगते हैं, उन्हें कुछ अन्दाज़ा लगने लगता है कि अक्षरों को बाईं से दाहिनी ओर लिखते जाना है। उन्हें उनका नाम वगैरह लिखकर दिखाया जाए तो उसकी नकल करने की कोशिश भी कर लेते हैं। कभी-कभी बिना मात्राओं वाले हिन्दी शब्द बना लेते हैं। कुछ अक्षर मिरर इमेज जैसे भी हो सकते हैं।

इस अवस्था में भी बच्चों ने जो लकीरें खींची हैं, अक्षरों जैसा कुछ बनाया है, उस पर उनसे बातचीत कर लेना चाहिए। बच्चे बता पाते हैं कि उन्होंने क्या बनाया है या लिखा है। कभी-कभी इस अवस्था में बच्चे लिपि के साथ तो जूझ रहे होते हैं लेकिन चित्र थोड़े बेहतर बना पाते हैं। तो उनके बनाए आकार में चित्र और कुछ अक्षर भी शामिल हो जाते हैं। जैसे आप बच्चों को डॉग लिखने के लिए कहेंगे तो बहुत सम्भव है कि बच्चा कुत्ते जैसा कोई आकार बनाए और 'डी' अक्षर लिख दे। या फूल कहने पर कोई फूल जैसा आकार बनाए और 'फ' लिख दे।

शालाओं में या घर में बच्चे जल्दी-से भाषा को मानक लिपि में लिखने लगें, इस बात पर विशेष ज़ोर होता है। यानी बच्चों को जल्द-से-जल्द 'लिख्खड़' बना दिया जाए। इसलिए कई दफा लेखन-पूर्व अवस्था में बच्चों को ज़्यादा समय नहीं गुज़ारने दिया जाता या बच्चों की पर्याप्त तैयारी भी नहीं करवाई जाती है। इसी तरह इमरजेंट अवस्था में भी बच्चों को शब्दों की नकल की ओर ढकेला जाता है। इसके तहत अपना नाम, माँ का नाम, पिता का नाम, भाई-बहनों के नाम, शाला का नाम, गाँव-शहर का नाम जैसे शब्दों की नकल करवाई जाने लगती है।

यहाँ हमें यह समझना होगा कि किसी भाषा को लिखना, उस भाषा को बोलने के मुकाबले फर्क किस्म की दक्षता माँगता है। भाषा को जब लिपि में लिखते हैं तो उसके कुछ नियम होते हैं। जैसे शब्द अक्षरों से मिलकर बनते हैं, शब्दों को सटा-सटाकर नहीं लिखा जाता, थोड़ी जगह छोड़नी होती है, हिन्दी में सामान्य शब्दों के साथ मात्राएँ लगाने के मानक तरीके हैं। इसी तरह इंग्लिश में भी अक्षर कब कैपिटल होगा, इसका नियम है। इसलिए इनसे भी जूझना होता है। कई बार शब्दों के उच्चारण से पता नहीं चलता कि इसका प्रतिनिधि ध्वनि-अक्षर कौन-सा है। उदाहरण के लिए, (I MAD ORANJ RED AND YELO) इसमें बच्चा यह बताना चाह रहा है कि मैंने लाल और पीले रंगों से सन्तरा बनाया है। यहाँ आपने ध्यान दिया होगा कि बच्चे ने मेड, ऑरेंज, येलो की स्पेलिंग को अपनी ओर से गढ़ा है जो ध्वन्यात्मक रूप से असल स्पेलिंग के काफी करीब हैं। ऐसा ही उदाहरण प्रियांशी ने अपने नाम को जिस तरह हिन्दी में लिखा है, उसमें भी है।

लिपि तक पहुँचने की तैयारी

बच्चों की लेखन पूर्व व इमरजेंट राइटिंग की अवस्था काफी महत्वपूर्ण होती है। इसलिए इस अवस्था में बच्चों से ढेर सारा संवाद और मौखिक अभ्यास तो करवाना ही चाहिए ताकि बच्चा अक्षरों, शब्दों और उनकी ध्वनियों के

परस्पर सम्बन्ध को बेहतर तरीके से समझ सके। साथ ही, बच्चों से लेखन-पूर्व के अभ्यास भी करवाना चाहिए। यहाँ कुछ लेखन-पूर्व अभ्यास सुझाए जा रहे हैं।

भाषा के मौखिक और शब्द कार्ड, अक्षर कार्ड वाले अभ्यास के दौरान कार्ड से नाम बनाना, वाक्य बनाना जैसे अभ्यास करवाने चाहिए। देखा गया है कि बच्चे लेखन से पहले ही इन कार्डों से शब्द, छोटे वाक्य बनाकर खुद को अभिव्यक्त करने लगते हैं।

इसके अलावा कुछ गतिविधियाँ ऐसी हो सकती हैं जिनका सम्बन्ध सीधे-सीधे हाथ में चॉक, क्रेयॉन, पेंसिल लेने से ही हो। जैसे कागज़ पर मनचाहे चित्र बनाने और गोदा-गादी करने देना। कभी-कभी चित्रों या गोदागादी के लिए विषय भी दिए जा सकते हैं या आपकी सुनाई कोई कहानी-किस्से पर भी बच्चे चित्र बना सकते हैं। यदि अपने बनाए चित्र के नीचे बच्चे कुछ लिखना चाहें तो उन्हें इसके लिए प्रोत्साहित कीजिए।

बच्चों को उनका नाम या उनके मनपसन्द जानवर या फल या फूल का नाम कंकड़ों से या बीजों से लिखने का मौका देना। एक-दूसरे की पीठ पर अंगुली की मदद से लिखना और क्या लिखा है इसे पहचानना, रेत पर अंगुली से लिखना आदि काम करवाए जा सकते हैं।

उपरोक्त गतिविधियाँ कुछ दिन करवाने के बाद बच्चों से उनका नाम, मनपसन्द जानवर, या फल या फूल के नाम कागज़ पर लिखने के लिए कह सकते हैं।

उपरोक्त में से कुछ तरीकों का इस्तेमाल *एकलव्य* फाउंडेशन अपने प्राथमिक शिक्षा कार्यक्रम (प्राशिका) और समुदाय आधारित शिक्षा प्रोत्साहन केन्द्रों में भी करता रहा है।

- माधव केलकर द्वारा विविध स्रोतों से संकलित

माधव केलकर: *संदर्भ* पत्रिका से सम्बद्ध हैं।

सीखना उम्र का मोहताज नहीं

रोहिल

हमने सुना, पढ़ा, देखा या अनुभव किया होगा कि पुस्तकालय की छोटी-छोटी कहानियों की किताबें पढ़ना सीखने को किस तरह से आसान बनाती हैं। बशर्ते, पाठक को ढेर सारी किताबों का संग्रह मिल जाए। किताबों के संग्रह से वह अपनी पसन्द की कहानियों की किताबों को चुनकर पढ़ पाए। पाठक पर किसी भी तरह की कोई बन्दिश न हो। जब चाहे, जैसे चाहे उनसे मुखातिब हो सके। जब वे इस प्रकिया से गुज़र रहे हों, तब समय-समय पर व ज़रूरत पड़ने पर मदद करने वाले साथ में मौजूद हों।

मैं लगभग 26-27 वर्ष की एक स्त्री के पढ़ना सीखने के शैक्षणिक सफर के अनुभव को साझा कर रहा हूँ। खास कर, उन तमाम जन के लिए जिनका शिक्षा के क्षेत्र में औपचारिक व अनौपचारिक जुड़ाव रहा है। पर साथ ही उन लोगों के लिए भी जो शिक्षा में नवाचार को तवज्जो देते रहे हैं, और वे भी जिनकी नज़र कभी-कभी यूँ ही किताबों पर चली जाती है।

इस स्त्री के शैक्षणिक सफर के अनुभव को मैंने बहुत करीब से देखा है। जब मैं इस अनुभव से गुज़र रहा था, तब किताबों में पढ़ी हुई या किसी शिक्षाशास्त्री के वक्तव्य भर में सुनी हुई 'सीखने' से जुड़ी बातें मुझे मेरी नज़रों के सामने होते हुए दिख रही थीं। यह मैंने किसी शासकीय शाला या मोहल्ला सेंटर में नहीं देखा, बल्कि अपनी पत्नी के साथ घटते हुए अनुभव किया।

रुकसाना की दुनिया

मेरी पत्नी, रुकसाना, कभी किसी मदरसे या स्कूल नहीं गई थी। उसका दूर-दूर तक शिक्षा से कोई लेना-देना नहीं था। एक उम्र के बाद, उसने यह ख्वाब भर तक देखना छोड़ दिया था कि वह इस तरह से ढेर सारी कहानियों की किताबों से रू-ब-रू हो पाएगी। रुकसाना का नाता एक रूढ़िवादी सोच के परिवार से रहा है, जहाँ यह समझा जाता रहा है कि 'लड़कियों को पढ़ा-लिखाकर क्या करना है। धार्मिक शिक्षा मिल जाए वही बहुत है, उनको कौन-सा नौकरी करना है। धार्मिक शिक्षा ही अन्त में काम आती है। दुनिया की तालीम तो यहीं रह जाएगी। दीनी तालीम ही आखिरत में काम आएगी'। ऐसी विचारधाराओं से रुकसाना का जीवन घिरा रहा।

परिवार में पाँच बहनों में कोई भी स्कूली शिक्षा नहीं ले पाई। केवल लड़कों को अपनी मर्ज़ी से कुछ भी करने की आज़ादी थी। मैं और मेरा परिवार भी पहले इस मानसिकता के शिकार रहे हैं लेकिन जैसे-जैसे स्कूली शिक्षा मिलनी शुरू हुई, समाज की रूढ़िवादी सोच से उभरने का अवसर मिलता चला गया।

मैं ठहरा एक स्नातकोत्तर नौजवान लड़का और वह ईंट के भट्ठों पर काम करने वाली एक नौजवान लड़की। हम दोनों के बीच शादी की रज़ामन्दी कुछ इस बुनियाद पर तय हुई कि अगर हम एक-दूसरे को अपने जीवन-साथी के रूप में देख रहे हैं तो उनको मेरे साथ रहकर पढ़ने-लिखने की ज़हमत उठानी पड़ेगी। इस ज़हमत के लिए, मैं उनकी हर सम्भव मदद करूँगा।

यह शर्त इसलिए थी क्योंकि मेरा मानना है कि पढ़ने-लिखने से हम केवल कहानियों, किस्सों, कविताओं एवं व्यक्तिगत जीवन के अनुभवों तक ही सिमटकर नहीं रहते; बल्कि इससे हम समाज के सांस्कृतिक, सामाजिक, आर्थिक ताने-बाने को समझने, उन पर विचार करने एवं उन्हें आत्मसात करने के मौके भी पाते हैं। असल में, हम पढ़ने-लिखने के दौरान अपनी सोच के दायरे को फैला रहे होते हैं। हम सोचने के अलग-अलग दृष्टिकोणों को आत्मसात कर रहे होते हैं। हम पुरानी संस्कृति से नई संस्कृति में हो रहे बदलावों को भी देख पाते हैं। पढ़ने-लिखने से जो ज्ञान हम खुद ग्रहण कर रहे होते हैं, उसको दूसरी पीढ़ी को सौंपने का काम भी कर सकते हैं। जब हम अलग-अलग तरह के साहित्य से अवगत होते हैं तो स्वाभाविक रूप से हम उसको सकारात्मक व नकारात्मक, दोनों पहलुओं से देख पाते हैं, जिससे हमारे सोचने के आयाम ही बदल जाते हैं।

पढ़ने की शुरुआत

हमारी शादी होने में लगभग एक-दो महीने ही बचे थे कि रुकसाना ने पड़ोस की किसी सहेली के यहाँ कभी-कभी पढ़ने के लिए जाना शुरू कर दिया। वह वहाँ हिन्दी की बारहखड़ी सीखने का प्रयास करने लगी। बीच-बीच में मैं भी उससे पूछता रहता कि क्या चल रहा है। वह जो भी सीखती, मुझे बताती कि आज यह सीखा, वह सीखा।

फिर कुछ यूँ हुआ कि जब हम दोनों शादी के बाद होशंगाबाद ज़िले के पिपरिया ब्लॉक में आए तो मैंने पहले दिन यह जानने-समझने की कोशिश की कि रुकसाना का भाषा में क्या स्तर है। मैंने पाया कि उसे हिन्दी की ज़्यादातर वर्णमाला का ज्ञान है। वह कुछ-कुछ शब्द भी पढ़ पाती थी जैसे - कप, आम, नाक, कलम। पढ़ने का यह स्तर देखने के बाद मैंने उसे *एकलव्य* संस्था की 'पढ़ो-लिखो मज़ा

करो' पुस्तिका का अभ्यास करवाया, जिसमें उसने पहले छोटे-छोटे शब्दों को पढ़ने का और उसी के साथ मात्रात्मक सरल शब्दों का अभ्यास किया। कच्चा-पक्का मात्रात्मक ज्ञान होने के बाद, मैंने उसे *एकलव्य* की लायब्रेरी से छोटे-छोटे वाक्यों वाली किताबें पढ़ने के लिए दीं। उसे अपने शुरुआती दौर में बरखा सीरीज़ की किताबें पढ़ने में बहुत मज़ा आता था। पर उसके अलावा उसने एन.बी.टी. और *एकलव्य* की किताबें भी बड़े चाव से पढ़ीं।

जब वह उन किताबों को पढ़ रही होती तो मुझसे वे शब्द पूछने आती जो उसके लिए नए होते थे या जो वह पढ़ नहीं पाती थी। रुकसाना को शक होता था कि कहीं वह उस शब्द को गलत तो नहीं पढ़ रही है। जिन शब्दों में 'अं' की बिन्दी लगी होती थी या जिनमें मात्रा वर्ण से पहले लगी होती थी, ऐसे शब्दों को पढ़ने में काफी जद्दोजहद करनी पड़ती थी। उदाहरण के लिए, यदि कहीं 'रंक' या 'बन्दर' लिखा होता, तो उसे शब्द का उच्चारण करने में परेशानी का सामना करना पड़ता था। 'निश्चित' या 'पुस्तिका' जैसे शब्दों में 'इ' की मात्रा का उच्चारण किस वर्ण के साथ करना है, यह मालूम न हाने से परेशानी होती थी। इस तरह के शब्दों पर मैंने भी इससे पहले उसके साथ काम नहीं किया था। जब वह कहानी पढ़ रही होती थी तो सरल शब्दों के साथ ही उसे नए शब्दों की बनावट से भी रू-ब-रू होना होता था। उदाहरण के लिए मृग, प्रश्न, गर्म, ग्राम, धर्म, कर्म, क्रम – इस तरह के ढेर सारे शब्द उसको कहानियों में देखने को मिलते थे, लेकिन इन शब्दों की पुनरावृत्ति किताब में कम होती थी।

रुकसाना बनाम बच्चे

स्कूली बच्चों की तरह रुकसाना में भी यह खास बात थी कि किसी भी नए अथवा कठिन शब्द से सामना होने पर झट-से उसके बारे में पूछे बिना आगे नहीं बढ़ती थी। अगर मैं उसके पास मौजूद नहीं होता था तो उस शब्द को बाद में ज़रूर पूछती थी कि इसको कैसे पढ़ा जाता है। इस तरह से उसको कहानियों की किताबों से ऐसे शब्दों का अभ्यास लगातार होता गया, और वह एक के बाद एक किताबें पढ़ती गई।

अगर मैं रुकसाना और बच्चों के पढ़ने सीखने में हो रही गलतियों पर समानताओं व असमानताओं की बात करूँ तो मैं उसके पढ़ने के दौरान देख पाया कि जिस तरह प्राथमिक स्कूल के बच्चे नए-नए शब्दों को लेकर जूझते हैं, उन्हें समझने या पढ़ने के लिए किसी दूसरे की मदद लेते हैं, ऐसा उसके साथ भी देखने को मिला। लेकिन उम्र का फासला ज़्यादा होने के कारण बच्चों की अपेक्षा रुकसाना द्वारा चीज़ों को जल्दी समझ लेना भी, देखने को मिला। साथ ही, वह खुद से भी अन्दाज़ा ज़रूर लगाती रहती थी कि शायद फलाँ शब्द को ऐसे पढ़ा जा सकता है, और फिर अपने अन्दाज़े को पुख्ता करने के लिए बाद में अपने सहपाठी से पूछकर पक्का करना भी रुकसाना की प्रवृत्ति में शामिल रहा है। बीच-बीच में पढ़ते-पढ़ते ऊब जाना, फिर मन करे तो पढ़ते रहना, अपनी पसन्द से अच्छी-से-अच्छी किताब का चुनाव करना, ज़्यादा टोका-टाकी पसन्द न करना, प्रोत्साहन करने पर लगन से पढ़ना और अपनी पढ़ी हुई कहानी के अच्छे व खराब हिस्से को बताना, लिखते समय शब्द की बनावट जब तक उसके हिसाब से ठीक नहीं बन जाती तब तक मिटाना और बार-बार लिखना - ये सब भी रुकसाना की प्रवृत्ति का हिस्सा रहे हैं।

इस दौरान एक बात यह समझ आई कि अगर यह सब उसके साथ बचपन में किया जाता तो शायद वह इतनी जल्दी नहीं सीख पाती जितना इस उम्र में सम्भव हो पाया है। इस बात से यह भी सवाल उठता है कि हम या कोई भी पालक चाहता है कि उसका बच्चा जल्दी-से-जल्दी पढ़ना-लिखना सीख ले, लेकिन अगर बच्चे को आप 6-7 साल की उम्र तक कुछ भी पढ़ना-लिखना नहीं सिखाओ तो क्या वह ये सब उस गति से ही सीखेगा या फिर उसके सीखने-समझने की गति में कोई बदलाव आ सकता है? मुझे लगता है, अगर बच्चे को पढ़ने-सीखने में लगन पैदा हो गई है तो उसकी गति एक वयस्क की तरह ही देखी जा सकती है।

उच्चारण की मुश्किलें

जब रुकसाना कहानियों की किताबें पढ़ रही थी तो मैंने पाया कि

वह 'कारण' का उच्चारण 'कारन' करती थी। मैंने कई बार उच्चारण ठीक करवाने की कोशिश की लेकिन वह सही उच्चारण नहीं कर पाती थी। इसका मुख्य कारण मुझे यह समझ आया कि बच्चों की अपेक्षा वयस्कों में एक उम्र के बाद उच्चारण पर काम करना बहुत कठिन प्रक्रिया होती है, क्योंकि कई बार मैं भी अपने आपको कुछ शब्दों के उच्चारण के साथ जूझता पाता हूँ, जैसे – स्तर, सत्र, कर्म, क्रम, मित्र, श्रद्धा। ऐसे शब्दों पर मेरे शिक्षक ने बचपन में ही गौर किया होता तो शायद मैं भी ठीक-से उच्चारण कर पाता। अगर बच्चे और शिक्षक एक ही परिवेश से हैं तो यह समस्या ज़्यादा देखने को मिलती है। मैंने खुद अपने शिक्षक और मेरे साथ पढ़ने वाले विद्यार्थियों में देखा है कि वे भी एक ही तरह का उच्चारण करते मिलते हैं। एक उम्र के बाद उच्चारण पर काम करना उतना आसान नहीं होता है जितना बच्चे के शुरुआती दौर में काम करने का प्रभाव रहता है।

पढ़ने की लगन

एक दिन का वाकया मुझे ठीक-से याद है – रुकसाना को छोटी-छोटी किताबें पढ़ते हुए लगभग महीना भर ही हुआ था कि एक दिन उसने थोड़ी मोटी या यूँ कह लीजिए कि ज़्यादा पन्नों वाली किताब को पढ़ने के लिए चुन लिया। उसने उसे पढ़ना शुरू तो किया लेकिन वह किताब उससे खत्म नहीं हो रही थी। तो उसने थक-हार कर उसको वापस रख दिया। लेकिन मैंने उसे टोका नहीं। उसको उसके मन की करने दी। शाम को उसने उसी किताब के बारे में बताया कि आज तो मैंने गलती से बड़ी किताब पढ़ने के लिए चुन ली थी, जिसे मैंने थोड़ी देर पढ़कर वापस रख दी। लेकिन हैरानी की बात यह है कि उसने यह ठान लिया था कि इस किताब को वह फिर से पढ़ेगी। कुछ दिन बीत जाने के बाद, जब उसे एहसास हुआ कि अब वह इस किताब को एक दिन में पूरा पढ़ सकती है, तो उसने फिर से वह किताब उठाई और उसे पूरा पढ़कर ही दम लिया।

यह वाकया अन्य स्कूली बच्चों के जैसा ही है जो नई किताबों के दौरान अपने को कभी बहुत ज़्यादा खुश तो कभी नाराज़ पाते हैं। अपनी पढ़ी हुई हर कहानी को अपने शिक्षक/शिक्षिका, दोस्त, भाई, बहन या अपने माता-पिता के साथ साझा करने के लिए उतावले रहते हैं। हर रोज़ वह जो किताब पढ़ती, उसे अपने शब्दों में मुझे बताती कि कहानी में क्या-क्या हुआ था, किसने क्या किया।

जब भी हम दोनों बाहर जाते तो मैं दीवारों पर लिखे शब्दों को पढ़ने के लिए अक्सर उसे प्रोत्साहित करता था। हमेशा आसान शब्दों से कठिन शब्दों की तरफ जाने की कोशिश रहती थी। हम बात करते थे कि यही

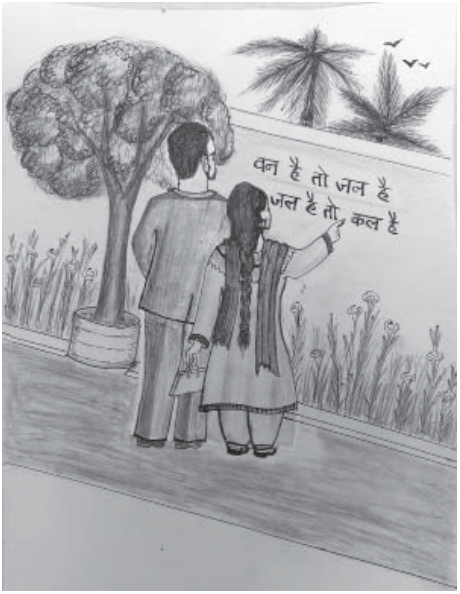

तो पढ़ना है, कहीं भी कुछ लिखे हुए को पढ़कर समझ जाना कि यह क्या कहना चाहता है। किताबों के पढ़े हुए को हमें अपने रोज़मर्रा के कामों से भी जोड़कर देखना है।

लिखना भी ज़रूरी

मुझे इस बात का भी एहसास हुआ कि उसको पढ़ना तो ठीक-से आ गया लेकिन खुद से लिखने में निपुणता उस गति से नहीं आई जिस गति से किताबें पढ़ना आया था। इसका मुझे एक ही कारण समझ आया कि अगर दोनों हिस्सों पर, पढ़ना और लिखने पर, बराबर समय दिया जाता तो रुकसाना का लिखने वाला हिस्सा भी उतना ही मज़बूत किया जा सकता था। साथ ही, यह भी कि पढ़ने वाले की जिज्ञासा और लगन भी पढ़ना सीखने में काफी हद तक मददगार रहती हैं। आसपास रहने वालों द्वारा बढ़ाया गया मनोबल भी उसे ज़्यादा-से-ज़्यादा पढ़ने व सीखने की तरफ लेकर जाता है।

ढेर सारी कहानियों की किताबों से रू-ब-रू होने के बाद अब उसका रुझान लिखने की तरफ देखने को मिलता है। पहले तो जब उसे सोचकर लिखने को कहा जाता था तो लिख ही नहीं पाती थी। कभी-कभी मैं उसे अपने दिनभर के काम लिखने के लिए कहता था तो वह गलतियों के साथ कुछ ही वाक्य लिख पाती थी। शुरुआत में सोचकर लिखने से डरती थी। और कहती थी, "क्या लिखूँ?" लेकिन जब उसी विषय के बारे में कुछ पूछता तो फटाक-से बता देती थी। इस तरह से सोचकर लिखने की तरफ भी शुरुआत हो गई है। गणित में उम्र के हिसाब से मौखिक समझ काफी थी। जोड़ना, घटाना, बाँटना, संख्याओं का हिसाब लगाना – यह सब उसे आता है।

और राहें खुल पड़ीं

जब रुकसाना मेरे साथ इस प्रक्रिया से गुज़र रही थी, उस समय

मेरे साथ काम करने वाले साथियों द्वारा दिए गए मनोबल ने उसे जल्दी-से-जल्दी सीखने-पढ़ने की तरफ अग्रसर किया। उसे कभी-कभी कह देते, "यकीन नहीं हो रहा कि आपने इतनी जल्दी पढ़ना सीख लिया है। हम आपकी लगन की दाद देते हैं। आप वाकई बहुत मेहनत कर रही हैं।" इससे भी उसका मनोबल बढ़ता था। इस अनुभव के दौरान मैंने रुकसाना को पढ़ने-लिखने में खूब गलती करने का मौका दिया। उसे बार-बार कहता था कि जितनी ज़्यादा गलती करोगी, उतना ही तुम्हारे लिए फायदेमन्द रहेगा। मैंने खुद गलती करके सीखा है।

कहानियों की ढेर सारी किताबों से रू-ब-रू हो जाने के बाद आज उसकी स्थिति मैं देख पाता हूँ कि वह कक्षा पाँचवीं की कहानियों, कविताओं को समझकर उनके सवालों के जवाब मौखिक रूप से तो देती ही है, साथ ही, लिखने का भी प्रयास करती है। मुझे ऐसा लगता है कि अगर दो-चार महीने उसकी ठीक-से मदद कर दी जाए तो वह पाँचवीं का पाठ्यक्रम पूरा कर सकती है।

रोहिल: हरियाणा ज्ञान विज्ञान समिति के वैकल्पिक स्कूल 'जीवनशाला' में छात्र जीवन की शुरुआत। संस्था के साथ विभिन्न सामाजिक, सांस्कृतिक कार्यक्रमों जैसे विचार गोष्ठियाँ, नुक्कड़ नाटक, सेमिनार, चलता-फिरता पुस्तकालय जैसी गतिविधियों में हिस्सेदारी। सन् 2016 से 2018 तक राजकीय प्राथमिक शालाओं में Hindi Language Teaching Program (HLTP) में कार्य। अज़ीम प्रेमजी फाउण्डेशन, बैंगलुरु से शिक्षा में स्नातकोत्तर। वर्तमान में पिपरिया, *एकलव्य* में कार्यरत।

सभी चित्र: कीर्ति चौहान: बीएड व पीजीडीसीए करने के अलावा अर्थशास्त्र में स्नातकोत्तर। स्वतंत्र रूप से चित्रकारी करती हैं। भोपाल में रहती हैं।

साक्षात्कार

दरवाज़ों और दिलों को खोलना: पढ़ने की संस्कृति और समावेशन के लिए मुक्त पुस्तकालयों की रचना

ऊषा मुकुन्दा के साथ बातचीत

ऊषा मुकुन्दा खुद को एक लायब्रेरियन मानती हैं। वे लायब्रेरियन की उस प्रचलित छवि को तोड़ने में भी कामयाब रही हैं जिसमें वह एक गम्भीर, गुस्सैल और दुनिया से अलग-थलग जीव दिखाई पड़ता है। ऊषा मुकुन्दा के साथ बातचीत से आपको भी यह यकीन हो जाएगा कि लायब्रेरी के बारे में आमूल पुनर्विचार कितना ज़रूरी है - ताकि ऐसी लायब्रेरी बनाई जा सके जहाँ जाने का सबका जी करे और जिसकी सारी अलमारियाँ खुली हों। क्या आपको मेरी बात पर यकीन नहीं है? तो आइए, इस बारे में उन्हीं से जानते हैं!

? **विवेक वेलांकी:** सबसे पहले वही घिसा-पिटा सवाल - हम क्यूँ चाहते हैं कि बच्चे पढ़ें?

ऊषा मुकुन्दा: आपने तो खुद ही कह दिया है कि यह एक घिसा-पिटा सवाल है! खैर, मेरे पास इसका एक घिसा-पिटा जवाब भी है और मेरे खयाल में सभी गाहे-बगाहे इसको दोहराते ही रहते हैं। मेरी राय में, पढ़ना एक बड़े कमाल का हुनर है। यह एक जीवन-कौशल है। यह हमें प्रेरणा देता है, हमें जानकारियाँ देता है, हमें सोचने के लिए प्रेरित करता है। बेशक, ये सारी बातें सही हैं और सभी इन्हें जानते हैं, फिर भी मैं इनसे थोड़ा और नीचे, ज़्यादा बुनियादी चीज़ों पर जाना चाहूँगी। हममें से बहुत सारे लोगों ने निर्माण स्थलों पर बच्चों को देखा होगा। मुझे यकीन है कि आपने भी कभी-न-कभी उनको पास से देखने की कोशिश की होगी। अगर ऐसा किया है तो आपने यह भी देखा होगा कि उन्हें अपने आसपास जो भी चीज़ मिलती है, उससे खेलने की उनके पास एक कमाल की रचनात्मक क्षमता होती है। बच्चों की यह क्षमता हमेशा मुझे खींचती रही है। वे हर रोज़ नए-नए खेल रचते हैं, कोई-न-कोई कारनामा करते रहते हैं, शायद हर वक्त

कल्पनाओं में व्यस्त रहते हैं। मगर होता यह है कि जब उनकी उम्र बढ़ती है तो एक मुकाम पर आकर ये चीज़ें ठहर जाती हैं, या तो स्कूल जाने के बाद - और यह भी कोई कम उबाऊ चीज़ नहीं है - या किसी और अवसर पर। यानी एक बिन्दु पर आकर वे ठहरने लगते हैं। चिमामान्दा नगूज़ी अदीची के शब्दों में कहूँ तो ज़्यादातर बच्चों के सामने किसी एक कहानी में समेट लिए जाने का खतरा बहुत प्रासंगिक होता है। असल में तो बच्चों को तरह-तरह की कहानियों, तरह-तरह की आवाज़ों को सुनने की ज़रूरत होती है और इसी से उनमें वह चिंगारी लगातार ज़िन्दा रहती है। मेरा खयाल है कि यह एक बहुत महत्वपूर्ण बात है।

दूसरी बात यह है कि पढ़ना इन्सानी आत्मा के साथ जुड़ने जैसा कृत्य है। आप पढ़ते हैं और एक ऐसी चीज़ को छूने लगते हैं जो दुनिया के न जाने किस भाग में, न जाने किसने और न जाने कब लिखी थी। मेरी निगाह में तो यह बहुत अहम बात है। जूलियन बार्नेस की एक उक्ति बड़ी गौर करने लायक है: "एक गैर-हाज़िर लेखक और हाज़िर पाठक के बीच जो सूक्ष्म रिश्ता बनता है, उसकी जगह दुनिया की कोई शय नहीं ले सकती।" न जाने क्यों यह खयाल मुझे बहुत अन्दर तक छूता है। मेरे लिए किताबों का अनुभव ऐसा ही रहा है। भले ही लेखक वास्तव में न मौजूद रहता हो मगर जब भी मैं पढ़ती हूँ तो मुझे हर वक्त वो मेरे साथ महसूस होता/होती है।

तीसरी बात, और मेरे हिसाब से बहुत महत्वपूर्ण बात यह है कि हम बच्चों को बाहर की दुनिया की असंख्य चीज़ों से अवगत कराने के माध्यम के तौर पर तो पढ़ने की बहुत बात करते हैं मगर बच्चे की एक भीतरी दुनिया भी होती है और वह भीतरी दुनिया पले-बढ़े, यह बहुत ज़रूरी बात है। वह खुद अपने भीतर के झाड़-झंखाड़ साफ करे, यह बहुत ज़रूरी है। पढ़ने से यह

काम बड़ी आसानी-से हो जाता है! जैसे-जैसे उनकी उम्र बढ़ती है, उनको पीछे मुड़कर देखने, अपनी समीक्षा करने की गुजांइश भी दिखने लगती है। छोटे-से-छोटे बच्चों के पास भी पीछे मुड़कर देखने और सोचने की बेपनाह काबिलियत होती है। मेरे विचार में ये तीन बड़ी बुनियादी चीज़ें हैं जिनकी वजह से मुझे पढ़ना इतना महत्वपूर्ण लगता है।

? **विवेक वेलांकी:** आपके एक लेख में आपने बच्चों के लेखकों और बच्चों के लिए लिखने वाले लेखकों में बड़ा दिलचस्प और विचारोत्तेजक भेद बताया है। यह भेद क्या है और आप इसे क्यों महत्वपूर्ण मानती हैं?

ऊषा मुकुन्दा: जब मैंने वह लेख लिखा था तो मेरे ज़हन में यह बात बहुत साफ थी कि बच्चों के लेखक और बच्चों के लिए लिखने वाले लेखकों से मेरा क्या आशय था। अब भी, जब मैं पीछे मुड़कर उसे देखती हूँ तो यह भेद मेरे ज़हन में बहुत साफ है, मगर मेरा खयाल है कि मुझे इन दोनों श्रेणियों को व्यक्त करने के लिए कोई और तरीका सोचना चाहिए। मेरे खयाल में बच्चों के लेखक वे होते हैं जो अपनी ज़िन्दगी के आधार पर लिखते हैं। वे किताब में होते हैं। वे बाहर से खड़े होकर झाँक नहीं रहे होते हैं। वे खुद कहानी का हिस्सा होते हैं; वे खुद उस चीज़ का हिस्सा होते हैं जिसे बच्चा आत्मसात कर रहा है या पढ़ रहा है।

दूसरी तरफ, एक पूरा गिरोह है जो बच्चों के लिए लिखता है। वे ऐसी चीज़ें लिखते हैं जो उनके हिसाब से बच्चों को पसन्द आती होंगी। यानी ये लोग बच्चों की बौद्धिक क्षमता और कल्पनाशीलता के लिए ज़्यादा सम्मान नहीं रखते। वे मानकर चलते हैं कि उन्हें पहले से मालूम है कि बच्चे को क्या पसन्द आता है। एक तरह से वे बच्चे को थोड़ा बेवकूफ मानते हैं। ऐनिड ब्लाइटन इसका एक बढ़िया उदाहरण हैं। उन्होंने सैंकड़ों किताबें लिख डाली हैं और बहुत सारे लोग अभी भी उन्हें पढ़ते हैं। मगर उनके किरदारों में, उनकी भाषा में एक किस्म का खोखलापन है। वे मानकर चलती हैं कि बच्चों को ऐसी ही भाषा, ऐसे ही किरदार पसन्द आएँगे। इसी मान्यता के आधार पर ऐसे लोग लिखने बैठते हैं। मगर हमारे पास बच्चों के लेखक भी हैं जो ईमानदारी से लिखते हैं। बल्कि मैं कहूँगी कि ज़्यादा सच्चाई से लिखते हैं। वे या तो अपने बचपन के आधार पर या उस ज़माने की अपनी उन यादों के आधार पर लिखते हैं जो अभी भी उनके भीतर साँस ले रही हैं।

मैं यहाँ इस बात को भी कहना चाहती हूँ कि वे (यानी बच्चों के लेखक) बच्चों के साथ एक समानता के बोध के साथ लिखते हैं। शायद वे अपने

भीतर साँस ले रहे बच्चे के लिए लिखते हैं। मुझे मालूम नहीं कि यह समझना कितना कठिन है। फिर भी, मेरा खयाल है कि वे बच्चों से यही बातें करना चाहते हैं। बिना लाग-लपेट के। अब शिक्षा के अधिकार की बदौलत बहुत सारी किताबें छप चुकी हैं और नई लायब्रेरी खोलने के आग्रह के चलते ऐसी और भी किताबें लिखी जा रही हैं जिनके लिखने वालों ने यह तय कर लिया है कि उन्हें मालूम है कि बच्चों को क्या भाएगा। और इस श्रेणी में वे भयानक, महाभयानक चीज़ें भी हैं जिन्हें नीति कथाएँ कहा जाता है!

? **विवेक वेलांकी:** क्या आपको लगता है कि इस तरह के लेखन में चीज़ों को बहुत सीमित कर देने की प्रवृत्ति होती है? ऐसे लेखन में आप बहुत पहले से ही यह तय कर देते हैं कि बच्चे क्या पढ़ेंगे या उन्हें क्या पढ़ना चाहिए। आपको क्या लगता है?

ऊषा मुकुन्दा: बिलकुल। मेरे खयाल में यह बहुत गम्भीर समस्या है। एक वयस्क के नज़रिए से यह तय कर देना कि बच्चे को क्या पढ़ना चाहिए, उसे क्या सोचना चाहिए, उसे क्या करना चाहिए और फिर इन चीज़ों के आधार पर बच्चे को एक साँचे में ढालने की कोशिश में लग जाना, यह बड़े अफसोस की बात है। यह इसलिए भी चिन्ताजनक है क्योंकि ये सब-कुछ बहुत सूक्ष्म ढंग से चलता है।

? **विवेक वेलांकी:** बच्चों के लिए पाठ्यसामग्री चुनने के दौरान हम अक्सर यह दलील सुनते हैं कि फलाँ किताब बहुत कठिन है, उसमें बहुत ज़्यादा हिंसा है, या वह अन्याय, असमानता, भेदभाव जैसे सवालों की बात करती है जो केवल 'वयस्कों की चिन्ताएँ' होती हैं। आप इस राय से सहमत हैं कि कोई भी विषय ऐसा नहीं है जिस पर बच्चों के साथ बात नहीं की जा सकती हो। क्या आप इस पर कुछ और रोशनी डालना चाहेंगी?

ऊषा मुकुन्दा: जब आप अन्याय वगैरह को वयस्कों की दुनिया का सवाल कहते हैं, तो बच्चे के लिए भी तो अन्याय का सवाल उतना ही प्रासंगिक है। उसके साथ कक्षा में, खेल के मैदान में क्या कुछ होता है। बच्चे के लिए अन्याय के ये अनुभव उतने ही वास्तविक हैं जितना वयस्कों के लिए होते हैं। लिहाज़ा, ये सवाल बच्चों की ज़िन्दगियों से दूर के नहीं हैं। फिर भी मैं यही कहूँगी कि इस बारे में हमारा रवैया, हमारी आवाज़ सच्ची होनी चाहिए। जब कोई लेखक हिंसा या कठोर ज़िन्दगी के बारे में लिखे तो उसकी आवाज़ में एक सच्चाई होनी चाहिए। अगर ऐसा होगा तो मेरे खयाल में बच्चा उसकी बात को अपनी ज़िन्दगी से जोड़कर देख पाएगा। मगर मैं

किताब को खोले बिना ही बच्चे को उसमें फेंक देने की हिमायती भी नहीं हूँ। मैं इस बात का खयाल रखना चाहूँगी कि उसमें उनकी भावनाओं, उनकी सोच की गुजांइश हो।

मेरे कहने का मतलब यह नहीं है कि आप पहले किताब के बारे में भाषण दें। कतई नहीं। इस भाषण में तो आपकी सोच और राय पहले से ही आ जाएगी। इसकी बजाय मैं बच्चे से सुनना चाहूँगी कि वह हिंसा, आतंकवाद या राइख (Reich) की पुरानी कहानियों के बारे में किस तरह प्रतिक्रिया देता है। न तो हमें इन चीज़ों को केवल काम-चलाऊ ढंग से देखना चाहिए और न ही इससे उनके भीतर डर पैदा होना चाहिए। क्या आप *सडाको एण्ड द थाउज़ेन्ड पेपर क्रेन्स* किताब के बारे में जानते हैं? यह हिरोशिमा की दहशत की कहानी है। यह किताब बहुत संवेदनशील ढंग से और सम्भवत: 10-11 साल के बच्चों के लिए लिखी गई है। आप सोच सकते हैं कि 10-11 साल के बच्चे इस बात को किस तरह समझ पाते होंगे कि उस वक्त वहाँ क्या हुआ होगा और इस बात को कैसे स्वीकार करते होंगे कि यह कहानी एक मौत पर खत्म होती है। मगर लगता है कि मौत के बारे में भी एक संजीदगी और संयत ढंग से बात करना बहुत ज़रूरी है। मेरे हिसाब से तो बहुत छोटे बच्चे भी इसके लिए तैयार होते हैं। यही वह बिन्दु है जहाँ लायब्रेरियन या अभिभावक या अध्यापक एक अहम भूमिका अदा कर सकते हैं। मेरा कहना है कि बच्चों के सामने इस तरह के सवालों को लाने से न डरें क्योंकि ये सवाल तो पहले ही बच्चे के ज़हन में घूम रहे होते हैं।

? **विवेक वेलांकी:** आपने लायब्रेरियों की स्थापना और इसके लिए संस्थानों को मदद करने में काफी समय और योगदान दिया है। अब आप ओपन लायब्रेरी (मुक्त पुस्तकालय) की एक प्रख्यात समर्थक के रूप में जानी जाती हैं। क्या

आप ओपन लायब्रेरी की अवधारणा पर कुछ रोशनी डाल सकती हैं? आप इसका इतना समर्थन क्यों करती हैं?

ऊषा मुकुन्दा: पहले तो मैं ज़रा ठहरकर कुछ कहना चाहती हूँ। मैं इस बात पर ज़ोर देना चाहती हूँ कि केवल हमारा अनुभव ही नहीं है जो महत्व रखता है; उतनी ही महत्वपर्ण बात यह भी है कि हम उसे कितनी सादगी से प्रस्तुत करते हैं। यानी मेरे लिए अनुभव का आशय ऐसी चीज़ों की सुखद स्मृतियों से हो सकता है जो कामयाब रहीं। ऐसी चीज़ें जो बच्चों के साथ आगे बढ़ पाईं या नहीं बढ़ पाईं मगर जिनसे उन्होंने कुछ सीखा हो। मगर मैं हर मुठभेड़, हर स्थिति और हर गतिविधि में सादगी और सच्चाई के महत्व पर खास ज़ोर देना चाहती हूँ। अगर ऐसा नहीं होगा तो शायद लोग कहें, "अच्छा-अच्छा, इसके पास तो बेहिसाब तजुर्बा है, यह तो कुछ भी कर सकती है।" यह बात आपके लिए भी और बच्चे के लिए भी, दोनों के लिए बोझ बन सकती है, इसलिए इसे एक तरफ रख दें।

अब सवाल आता है ओपन लायब्रेरी का। जी हाँ, यह मेरे लिए बहुत ठोस यथार्थ बन चुका है। यह मेरे लिए सिर्फ एक अवधारणा नहीं है। शायद इसकी वजह यह है कि मैं एक ऐसे स्कूल में पढ़ी हूँ जहाँ की लायब्रेरी में हर चीज़ तालों में बन्द रहा करती थी। मुझे सिर्फ लायब्रेरी पीरियड के दौरान ही किताबें दी जाती थीं। मेरे खयाल में आज भी हिन्दुस्तान भर के स्कूलों में हालात कमोबेश ऐसे ही हैं और इसी लिए मुझे इस बात पर इतना ज़ोर देना पड़ रहा है। सबसे अहम बात है कि खुलेपन की भावना बच्चे के लिए भी हो और वयस्कों के लिए भी। इन दोनों के लिए खुलेपन की भावना इसलिए महत्वपूर्ण है क्योंकि एक मुक्त पुस्तकालय में सिर्फ अलमारियाँ ही खुली नहीं होतीं बल्कि और भी बहुत कुछ हो रहा होता है। आप किताबों को छू सकते हैं, उन्हें निकाल सकते हैं, आप उनको देख सकते हैं। मगर इन सबके अलावा वहाँ भरोसे की जड़ें भी पनप रही होती हैं। और, यह किसी भी बच्चे के सीखने के लिए और आत्मसात करने के लिए एक बहुत ही अहम चीज़ है। लिहाज़ा, मेरे लिए ओपन लायब्रेरी का सवाल बहुत ही महत्वपूर्ण रहा है। यह ज़िम्मेदारी के एहसास, आपसी भरोसे और खुलेपन को जन्म देता है। इसमें खुलेपन का मतलब दरवाज़ों को खोल देने से और पर्दों को हटा देने से नहीं है बल्कि दिमागी खुलेपन से भी है - इस बारे में खुलापन कि बच्चे क्या पढ़ रहे हैं, वे कैसे पढ़ रहे हैं, किताबें व्हील चेयर पर बैठे बच्चे की पहुँच में भी हों। हर तरह से खुली लायब्रेरी! एकदम समावेशी!

? **विवेक वेलांकी:** मैं समझता हूँ कि ज़्यादातर लायब्रेरियन, कम-से-कम जिनसे

मैं मिला हूँ, वे सभी लायब्रेरियन इस बात से बड़े खफा होंगे/होंगी कि लायब्रेरी में कहीं ताले न हों, कोई अलमारियाँ न हों, बच्चे कोई भी किताब जब चाहे उठाने को आज़ाद हों। ऐसे लायब्रेरियनों को आप खुद को बदलने के लिए, खास तौर से स्कूलों के लायब्रेरियनों को बदलने के लिए आप उन्हें क्या समझाएँगी?

ऊषा मुकुन्दा: मेरे खयाल में यह एक बहुआयामी पद्धति है। एक बात तो यह है कि ऐसे बहुत सारे लायब्रेरियन सम्भवतः खुद ओपन लायब्रेरी के बन्दोबस्त से बहुत खुश होंगे मगर हो सकता है कि वे खुद मैनेजमेंट के लोगों से डर रहे हों। उन्हें डर रहता होगा कि कहीं उनकी किसी चूक के लिए उन्हें दण्डित न किया जाए। लिहाज़ा, शुरुआत में हमें सबसे पहले स्तर पर काम करना चाहिए।

कर्नाटक ज्ञान आयोग के माध्यम से हमने वाकई यह निर्देश जारी करवाया कि अगर बच्चों से कोई किताब खो जाती है तो उन्हें सज़ा नहीं दी जानी चाहिए। मगर इसका मतलब यह भी नहीं है कि वे जानबूझकर किताबें गवाँने लगें या उनके बारे में लापरवाह हो जाएँ। मेरे खयाल में बच्चों के साथ इस बारे में बात करना सबसे ज़रूरी है। यह पहला स्तर है। इसके बाद मेरे खयाल में लायब्रेरियन भी इस बात को समझेंगे कि अब वही अकेला/अकेली संरक्षक नहीं है। लायब्रेरी एक्टिविटी या पुस्तकालय प्रक्रिया, अध्यापकों, प्रबन्धन और सबसे बढ़कर विद्यार्थियों के बीच चलने वाली एक साझा प्रक्रिया है। फलस्वरूप, मेरे हिसाब से सबको खुली पहुँच प्रदान करना कोई बड़ी समस्या नहीं होनी चाहिए।

लायब्रेरियन को यह सोचने की कोई ज़रूरत नहीं है कि 'दुनिया का पूरा बोझ मेरे ही सिर पर आ गया है और अगर मैंने सारी अलमारियाँ खोल दीं तो दुनिया तबाह हो जाएगी। मुझे बच्चों से इस बारे में बात करनी चाहिए कि मैं अलमारियाँ क्यों खोल रही/रहा हूँ। मेरे डर क्या हैं'। लायब्रेरियन चाहें तो बच्चों को यह भी बता सकते/सकती हैं कि "मैं इन अलमारियों को खुला छोड़ने से कतराती हूँ क्योंकि फिर तुम इन्हें लेकर गायब हो जाओगे!" मेरी निगाह में यहाँ साझेदारी का एहसास बहुत महत्वपूर्ण है और मुझे यह कहते हुए तसल्ली हो रही है कि बहुत सारे सरकारी स्कूलों की लायब्रेरी अब ओपन लायब्रेरी बन चुकी हैं और वहाँ अब भी सब कुछ बड़ा सामान्य चल रहा है।

चूँकि आपने ओपन लायब्रेरी की अवधारणा के प्रति मेरे गहरे आग्रह का ज़िक्र किया है तो मैं यहाँ संक्षेप में एक बात बताना चाहती हूँ। यह मेरे लिए

भी एक सीख है। मैं चाहती थी कि लायब्रेरी खुले माहौल वाली हो। और लिहाज़ा, मैं स्कूलों में जाती रही हूँ, मैनेजमेंट के लोगों से बात करती हूँ, कभी-कभी समझाती हूँ। मगर अन्ततः मैंने बहुत सारे स्कूलों में यही पाया कि वहाँ अलमारियाँ तो खोल दी गई थीं, मगर उनमें जो किताबें थीं, जो सामग्री थी वह किसी काम की ही नहीं थी! यानी बच्चों के पास पूरी छूट तो थी मगर उस छूट का वे करें क्या? भयानक, वाहियात किताबें! लिहाज़ा, अब मेरे लिए ओपन लायब्रेरी के साथ-साथ उसमें मौजूद किताबों की गुणवत्ता का सवाल भी उतना ही महत्वपूर्ण हो गया है। यानी लायब्रेरी का खुलापन और किताबों की अच्छी गुणवत्ता, दोनों बातों पर एक साथ ध्यान दिया जाना चाहिए।

? **विवेक वेलांकी:** आपने कुछ ऐसे अनुभवों का भी ज़िक्र किया है जहाँ किताबें छः महीने बाद या साल भर बाद भी लौटी हैं। इस तरह की स्थितियों पर आपकी क्या प्रतिक्रिया है? आप इस स्थिति को कैसे देखती हैं?

ऊषा मुकुन्दा: मेरे लिए तो ये बड़ी खुशी की कहानियाँ हैं! मेरे हिसाब से तो जब इतनी देर के बाद भी किताब लौट आए तो लौटाने वाले को गले लगाकर उसका शुक्रिया अदा करना चाहिए। यानी उन्हें यह बात समझ में आनी चाहिए कि मैं उनके इस बर्ताव से कितनी खुश हूँ। मैं उससे क्यों, क्या जैसे सवाल नहीं करूँगी, क्योंकि मुझे मालूम है कि बच्चे ने उस किताब को ढूँढ़ने के लिए पहले ही बहुत संजीदगी से कोशिश की होगी। असल में, आप पूरी प्रक्रिया पर गौर करें - बात यह नहीं है कि मुझसे किताब खो गई है और मैं चुपचाप बैठ गया/गई हूँ और छः महीने बाद किताब लौट आती है। इसके साथ ही कुछ और भी चल रहा होता है। इस दौरान बच्चा अपने संगी-साथियों से, माँ-बाप से किताब ढूँढ़ने की गुहार लगाता है। कई बार मैंने भी बच्चों को इसके लिए सलाह दी है। मैं उनके हॉस्टलों और घरों में भी गई हूँ। ये बहुत छोटी-छोटी बातें हैं। ये कोई भारी-भरकम सवाल नहीं हैं। मगर जब वे किताब लेकर आते हैं तो बजाय यह कहने के कि अब मैं इस स्थिति में क्या करूँ, मैं इस बात पर गौर करूँगी कि किताब लौटाते हुए उनको कितनी खुशी मिल रही है। जब मैंने बैंगलोर के वैली स्कूल में काम करना शुरू किया था तो बहुत सारी किताबें बहुत जल्दी गायब हो गई थीं। तब मैंने पोस्टर लगाने शरू किए जिन पर लिखा होता था, "लौट आओ, सारी गुमशुदा किताबों, लौट आओ।" यानी मैं बच्चों को यह सन्देश दे रही थी कि मैं उन गुमशुदा किताबों का सहज भाव से इन्तज़ार कर रही हूँ और यकीन मानिए वे किताबें लौट आईं! अब आप ही बताइए कि इसमें कोई चीज़ आपको अजूबा या बेमतलब की लगती है?

मैंने जब लायब्रेरी साइंस का कोर्स किया था तो मेरे एक अध्यापक थे प्रोफेसर गोपीनाथ। मैं उन्हें कभी नहीं भुला सकती। वे कहा करते थे, "कोई किताब कभी भी खोती नहीं है। बस, यह मान लीजिए कि उसे कहीं कोई पढ़ रहा है और हमें पता नहीं है।" मेरे खयाल में यह बड़े पते की बात है। बेशक, लायब्रेरी में बड़ी महँगी किताबें भी होती हैं। हो सकता है, आप उन के बार में ज़्यादा अहतियात का रवैया अपनाएँ। आप उनके बारे में भी अपने विद्यार्थियों से बात कर सकती हैं, "तुम लोग जानते हो कि यह बहुत खास किताब है। मैं केयरटेकर की तरह ही यह किताब तुम्हें दे रही हूँ, इसका खयाल रखना।" वैसे भी, आम तौर पर किसी गुमशुदा किताब की जगह उसकी नई प्रति का बन्दोबस्त करना इतना नामुमकिन भी नहीं होता। सबसे पहले हमें इस सोच को तोड़ना होगा कि बच्चे जानबूझकर और बदनीयती के साथ किताबों को गुमा देते हैं। अगर हम यह मान लें कि ऐसा उनकी लापरवाही या भूल से ही होता है तो फिर हम उनकी लापरवाही को दुरुस्त करने की ओर बढ़ सकते हैं। आखिर, हम भी तो भूल जाते हैं। है कि नहीं?

? **विवेक वेलांकी:** किताबों से परिचित कराने और लायब्रेरी को बच्चों के लिए एक ज़्यादा खुशनुमा जगह बनाने के लिए आपकी सबसे पसन्दीदा गतिविधियाँ कौन-सी हैं? आपने अभी तक जो कुछ बताया है, उसको देखकर यही लगता है कि यह एक ऐसी जगह है जहाँ मौज-मस्ती होती है और बच्चों और बड़ों

के बीच ऊँच-नीच का भेद टूट जाता है। आप ये सब कैसे करती हैं?

ऊषा मुकुन्दाः सबसे पहली बात यह है कि ऐसी कोई भी गतिविधि अच्छी होती है जो स्कूल की सामान्य दिनचर्या से भिन्न हो। सभी गतिविधियों में खुद-ब-खुद सूक्ष्म शैक्षिक कौशल होते हैं जो शायद बच्चों को साफ दिखाई नहीं देते, इसीलिए उन्हें वे गतिविधियाँ मज़ेदार लगती हैं। मेरे लिए बुक टॉक या किताब के बारे में बात करना सबसे महत्वपूर्ण गतिविधि होती है। यह बातचीत तब होती है जब बच्चे किसी किताब को पढ़ चुके होते हैं। वे खुद उस किताब के बारे में थोड़ा-बहुत बताते हैं जो पढ़ी होती है। वे पूरी कहानी नहीं बताते बल्कि उसके छिटपुट टुकड़ों की बात करते हैं। वे बताते हैं कि उन्हें किन चीज़ों ने आकर्षित किया या कौन-सी चीज़ें खास तौर से उनको छू गईं। इनमें तस्वीरें हो सकती हैं, फन्नों की साज-सज्जा हो सकती है, किरदार हो सकते हैं या कहानी की पृष्ठभूमि उन्हें आकर्षक लग सकती है। इसमें सबसे दिलचस्प चीज़ होती है उसके बाद होने वाली चर्चा, अन्य बच्चों की तरफ से आने वाले सवाल।

बुक टॉक के बारे में एक और असामान्य चीज़ जो मैंने महसूस की है, वो यह है कि किताबों में कई बार बड़े परेशान करने वाले मुद्दे भी बहुत सहज ढंग से आकर चले जाते हैं। मिसाल के तौर पर, बड़ी कम उम्र में गर्लफ्रेंड या बॉयफ्रेंड होना या कोई बुरी आदत या कोई अन्य समस्या। कहानी में उनको इतने सहज और अच्छे ढंग से पेश किया जा सकता है कि बच्चे को पढ़ते समय यह नहीं लगता कि उसको नसीहत दी जा रही है या उस पर उंगली उठाई जा रही है। बल्कि उसे उस दर्द या उस परेशानी या उस उलझन को व्यक्त करने का एहसास मिलता है। यह बात अपने माँ या बाप को खोने या माँ-बाप के तलाक से सम्बन्धित हो सकती है। और भी ऐसी बहुत सारी परेशानियाँ हो सकती हैं। मुझे लगता है कि उस चर्चा में बिना शर्म और झिझक के खुद को खुलने देने का मौका सामने आता है। मैं कह सकती हूँ कि हम सबने वो फलाँ किताब पढ़ी है और आप उसके बारे में खास ढंग से सोचते हैं, क्योंकि हो सकता है कि आप उनमें से कुछ चीज़ों से गुज़र रहे हों। फिर धीरे-धीरे हम यह कहने की स्थिति में भी आ सकते हैं कि "हाँ, मुझे इस किताब की कहानी अपनी ज़िन्दगी के काफी नज़दीक लगी।"

बुक टॉक सिर्फ विद्यार्थियों के लिए ही नहीं होती है बल्कि इसमें हम अपने अध्यापकों को भी बुलाते हैं। यह अध्यापकों के लिए भी एक नई जगह होती है जहाँ आकर वे किसी ऐसी किताब के बारे में बात कर सकते हैं जो उन्होंने हाल ही में पढ़ी है। विद्यार्थियों के लिए भी यह रोचक अनुभव होता

है। उन्हें नए पहलू पता चलते हैं।

"अरे हाँ, फलाँ टीचर बड़े अच्छे हैं", "अच्छा, तो मैडम खेलों की किताबें भी पढ़ती हैं" या "मास्टर साहब आजकल क्राफ्ट की किताबें पढ़ रहे हैं" आदि। यह अपने अध्यापकों के भीतर झाँकने का एक तरीका बन जाता है। आप चाहें तो सपोर्ट स्टाफ को भी इस गतिविधि में जोड़ सकते हैं। मुझे तो यह बहुत अच्छा तरीका लगा। मान लीजिए कि आप किसी आवासीय स्कूल में हैं या किसी सामान्य स्कूल में हैं, और वहाँ जो औरत झाड़ू लगाती है या खाना पकाती है, हो सकता है उसने भी कोई किताब पढ़ी हो या आपने उसके लिए यह सुनिश्चित किया हो कि वह एक खास किताब पढ़े। फिर वह किताब के बारे में बात करती है, उसमें अपनी ज़िन्दगी से क्या जुड़ाव देखती है, यह बताती है। यह बड़ा दिलचस्प तजुर्बा रहा है क्योंकि इस तरह बच्चे उस व्यक्ति को भी सम्मान के भाव से देखने लगते हैं। ज़ाहिर है, इससे उस व्यक्ति को भी अच्छा लगता है।

इसके अलावा 'ट्रेज़र हंट' एक और गतिविधि है जो मुझे बहुत पसन्द है। मैं लगभग हमेशा ट्रेज़र हंट के साथ ही शुरू करती हूँ। इसमें एक सुराग एक किताब से मिलता है और वह लायब्रेरी में ही किसी दूसरी किताब तक पहुँचा देता है। दूसरी किताब में दिया गया सुराग आपको अगली किताब तक पहुँचाता है। सबसे पहला सुराग किसी किताब को ढूँढ़ने के बारे में होता है। बच्चे उस किताब को ढूँढ़ने में जुट जाते हैं। इस जद्दोजहद में उन्हें दूसरा सुराग मिलता है। सिलसिला आगे बढ़ जाता है। अन्त में, उन्हें एक सुन्दर-सी कहानी सुनाई जाती है। और यही उनका इनाम या वह खज़ाना है! इसके बारे में सबसे अच्छी बात यह है कि उन्हें इस बारे में सोचने की ज़रूरत पड़ती है कि जो किताब वे ढूँढ़ रहे हैं, वह कैसी होगी, वह कहाँ हो सकती है। सबसे अच्छा मौका वो होता है जब एक राउंड के बाद वे सारे कहते हैं, "अब हम आपके लिए ट्रेज़र हंट बनाएँगे।" ट्रेज़र हंट की व्यवस्था करना ज़्यादा कठिन होता है क्योंकि इसके लिए आपको लायब्रेरी में मौजूद सारी चीज़ों की मुकम्मल जानकारी होनी चाहिए। जब वे ट्रेज़र हंट तैयार करते हैं तो मुझे कमरे से बाहर भेज देते हैं!

? **विवेक वेलांकीः** और आप खुशी-खुशी उनकी तजवीज़ मान लेती हैं...

ऊषा मुकुन्दाः हाँ, क्यों नहीं! चाहे कोई भी गतिविधि हो, मेरे सामने वयस्कों और बच्चों का सम्बन्ध सहज, आसान और बराबरी का ही होना चाहिए। इसे कहने की ज़रूरत ही नहीं है। यहाँ तक कि मेरे लिए भी, जब मुझे लायब्रेरी में कोई समस्या होती है, जब बिना एंट्री किए कोई किताब ले जाता

है या चूहे लायब्रेरी में उत्पात मचाते हैं या व्हील चेयर पर आने वाले बच्चों के लिए जगह बनाने का सवाल होता है, तो मैं हमेशा बच्चों के साथ उस पर चर्चा करती हूँ। मैं उनसे पूछती हूँ, "बताओ, अब इस स्थिति में हम क्या करें?" आप समझ सकते हैं कि इससे उनमें भी लायब्रेरी के प्रति अपनेपन का भाव उत्पन्न होने लगता है।

? **विवेक वेलांकी:** जिस तरह से आप बता रही हैं, उसके हिसाब से तो लगता है कि आप लायब्रेरी को एक रेडिकल परिधि के रूप में देखती हैं। यहाँ इस ऊँच-नीच और भिन्नताओं को चुनौती दी जा सकती है और वर्ग व उम्र की सीमाओं के परे सहभागी समानता का दर्जा पा सकते हैं। मगर अब ई-बुक्स, ऑनलाइन बुक्स का भी ज़माना आ गया है, तो क्या आपको लगता है कि बच्चों और बड़ों के लिए लायब्रेरी की परिधि एक खतरे में पड़ती जा रही है?

ऊषा मुकुन्दाः 'रेडिकल परिधि' की आप की संज्ञा वाकई प्रासंगिक है। मुझे भी आगे से यही इस्तेमाल करनी चाहिए! जहाँ तक ई-बुक्स का सवाल है तो बच्चों के मामले में मैं पूरे विश्वास के साथ कह सकती हूँ कि लायब्रेरी खतरे में नहीं है। मैंने देखा है कि फिलहाल बच्चे लम्बे समय तक ई-बुक्स में अपनी दिलचस्पी कायम नहीं रख पाते। यह बस उनके लिए नई चीज़ जैसा होता है। कुछ देर उसे पढ़ते हैं मगर फिर वे लायब्रेरी की तरफ लौटते दिखने लगते हैं। मेरा अपना नाती जो काफी शरारती है, कभी इस किताब के लिए तो कभी उस किताब के लिए लायब्रेरी में लौटता रहता है। असल में, मुझे लगता है कि ई-बुक्स को पढ़ना काफी हद तक एक अकेलेपन की गतिविधि है। मगर लायब्रेरी एक सामाजिक परिधि होती है। बच्चों को इसमें मज़ा आता है।

जैसा कि आपने अभी कहा, यह एक रेडिकल परिधि है जहाँ वे अनपेक्षित नज़ारा देखना चाहते हैं, नई चीज़ें, नए विचारों को देखना चाहते हैं। यह एक साझा और पारस्परिक परिधि भी है। ज़रूरी नहीं कि लायब्रेरी एक स्थिर जगह ही हो। मैं कई बार बच्चों को लायब्रेरी से किताब की दुकानों पर भी ले जाती हूँ जहाँ वे खुद किताबें चुन सकते हैं। ई-बुक्स की गहमागहमी से बचने का यह एक अच्छा तरीका है। इसमें बच्चों को बड़ा मज़ा आता है। वे छूटते ही कहते हैं, "अरे वाह! मुझे क्या पता था कि किताबें इतनी सारी होती हैं!" या "अरे वाह! फ्लिपकार्ट पर तो हम किताबों को छू ही नहीं पाते।" यानी वे खुद इस बारे में अपनी वजह ढूँढ़ लेते हैं कि यह हकीकत की दुनिया क्यों इतनी रोमांचक है। इस तरह के सफर में हमेशा आखिर में उन्हें चॉकलेट या आइसक्रीम मिल ही जाती है जिससे उनका अनुभव और मज़ेदार बन जाता है। यह उनके लिए सैर-तफरीह का मौका

बन जाता है। यह समाजीकरण भी है, किताबों के बारे में चर्चा का मौका भी है। मेरी नज़र में लायब्रेरी सिर्फ एक जगह का नाम नहीं है, बल्कि यह हमारे ज़हन में भी है। यह एक सोच है, एक जज़्बा है। मैं कहीं भी आ-जा सकती हूँ। तो निजी तौर पर मुझे लायब्रेरी के खतरे का डर नहीं लगता। न तो मैं ई-बुक्स से होड़ कर रही हूँ और न ही उन पर रोक लगा रही हूँ। यह भी ज़रूरी बात है। सबको साथ जीने दो। और यह हो सकता है। कुछ चीज़ों के मामले में ई-बुक्स ही कमाल की हैं और कुछ मामलों में अभी भी असली कागज़ की किताब ही ज़्यादा मज़ा देती है।

? **विवेक वेलांकीः** क्या आप आखिर में हमारे श्रोताओं और पाठकों के लिए कुछ कहना चाहेंगी?

ऊषा मुकुन्दाः मुझे रबिन्द्रनाथ टैगोर की यह पंक्ति बड़ी अच्छी लगती है जो उन्होंने बहुत सालों पहले न्यूयॉर्क सिटी में एक रेडियो प्रसारण के दौरान कही थी। बच्चों के बारे में बात करते हुए उन्होंने कहा था, "बच्चों के दिमाग को अपने सामने आने वाली हर चीज़ से टकराने दो, उन्हें अचम्भे का मज़ा लेने दो। उनका मस्तिष्क ऐसा हो जो हमेशा हर चीज़ का स्वागत करने को तैयार रहे।" मुझे यह नसीहत बड़ी काम की लगती है क्योंकि यह सिर्फ बच्चों के लिए नहीं है बल्कि हम सबके लिए प्रासंगिक है। मेरा खयाल है कि अगर हम सबमें वह भव्य स्वागत का भाव हो तो हम 'हम' और 'वे' की विभाजक रेखाओं के फेर में पड़े बिना बच्चों के साथ सारी कमाल की

चीज़ें कर सकते हैं। मेरा खयाल है कि यह बहुत महत्वपूर्ण बात है। दोनों के बीच कोई सीमाएँ नहीं होनी चाहिए। ये सीमाएँ हम खुद पैदा कर देते हैं।

मेरा खयाल है कि अगर मेरे पाठक लायब्रेरियन और प्रशिक्षु लायब्रेरियन हैं तो मैं उन्हें कहना चाहूँगी कि नई चीज़ों को आज़माना बड़ा मज़ेदार होता है। हो सकता है कि मैंने बहुत सारी बातें कही हों और आप सोच रहे हों, "हे भगवान! मैं यह सब कैसे पर पाऊँगा/पाऊँगी।" मगर, मेरा खयाल है कि अगर आप इन सब चीज़ों में खुले दिल से उतरें, एक-एक कदम आगे बढ़ाएँ, अपनी सुविधा के अनुसार चलें मगर लगातार चलते जाएँ तो इसके सुख को आप नज़रअन्दाज़ नहीं कर पाएँगे। पिछले तीस साल से भी ज़्यादा समय से मेरे लिए यह यात्रा बड़ी मज़ेदार रही है। और इसीलिए मुझे पूरा यकीन है कि एक दिन सारी दुनिया की लायब्रेरी बच्चों और किताबों से भरी होंगी - यकीनन।

ऊषा मुकुन्दा: पेशे से लायब्रेरियन हैं। वैली स्कूल में लायब्रेरियन रह चुकी हैं। पिछले तीस साल से बच्चों और किताबों के बीच काम कर रही मुकुन्दा 'सेंटर फॉर लर्निंग', बैंगलोर की सहसंस्थापक हैं जहाँ उन्होंने एक मुक्त पुस्तकालय की भी स्थापना की है।

विवेक वेलांकी: फिलहाल, मिशिगन स्टेट यूनिवर्सिटी स्थित कॉलेज ऑफ एजुकेशन के करिक्युलम, इंस्ट्रक्शन एण्ड टीचर एजुकेशन विभाग से पीएच.डी. कर रहे हैं। जिस समय यह साक्षात्कार रिकॉर्ड किया गया था, उस समय वे रीजनल रिसोर्स सेंटर फॉर एलिमेंटरी एजुकेशन (आरआरसीईई), दिल्ली विश्वविद्यालय में प्रोजेक्ट ऑफिसर के पद पर काम कर रहे थे। अन्तर्राष्ट्रीय शैक्षिक सुधार, आलोचनात्मक सिद्धान्त, जाति, नस्ल और जेंडर आदि सवाल उनके शोध का मुख्य विषय रहे हैं।
सम्पर्क: vivek.vellanki@gmail.com

अँग्रेज़ी से अनुवाद: योगेंद्र दत्त।

सभी चित्र: पूजा के. मैनन: *एकलव्य*, भोपाल में बतौर जूनियर ग्राफिक डिज़ाइनर काम कर रही हैं। चूँकि वे अन्यथा बातचीत करने में झिझकती हैं, स्केचिंग ने उनके विचारों को सम्प्रेषित करने और टिप्पणियों का दस्तावेज़ीकरण करने में एक माध्यम का काम किया है।

यह साक्षात्कार क्षेत्रीय प्रारम्भिक शिक्षा संसाधन केन्द्र (आरआरसीईई), दिल्ली यूनिवर्सिटी द्वारा डायलॉगिंग एजुकेशन श्रृंखला के तहत रिकॉर्ड किए गए साक्षात्कार का सम्पादित संस्करण है। इस संकलन के साक्षात्कारों को लिखित और ऑडियो माध्यमों में www.rrcee.net पर भी देखा जा सकता है। सम्पादक - विवेक वेलांकी व पूनम बत्रा।

Reference: Mukunda, U. (2006). Children and Reading. Journal of the Krishnamurti Schools. (10). Retrieved from http://www.journal.kfionline.org/issue-10/children-and-reading

क्या अँग्रेज़ी भारत के भविष्य की भाषा है?

पैगी मोहन

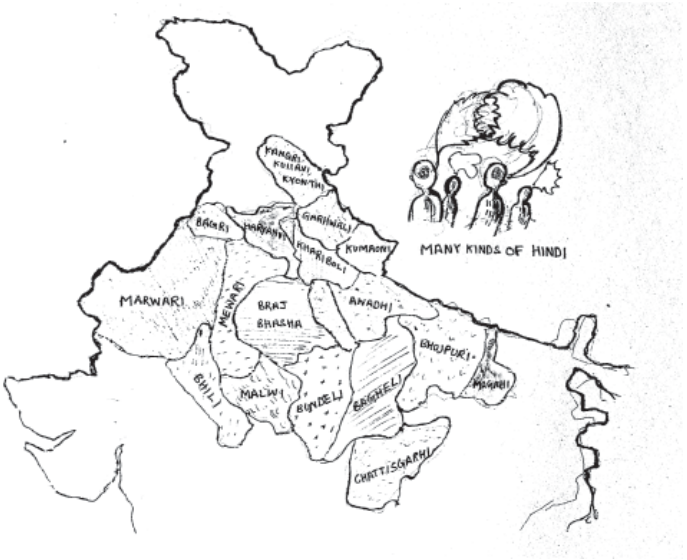

मेंढक-छलाँग ऊपर की ओर बढ़कर सन्तुलन की एक नई स्थिति पर पहुँचने का एक कुदरती तरीका है। स्टीफन जे. गूल्ड के अनुसार, उद्विकासीय परिवर्तन की तस्वीर कोई सरल-सहज और निरन्तर ऊपर की तरफ जाता हुआ चढ़ाव नहीं है। बल्कि, यह सीढ़ियों की एक शृंखला है जिसमें लम्बे और स्थिर पठारी काल के बीच-बीच में कुछ पथरीले संक्रमण काल भी आते हैं। इन संक्रमण कालों के पार निकल जाने का मतलब अपरिवर्तनीय छलाँग लगाना है।

पिछले कुछ सालों में दूरभाष या टेलिफोन क्षेत्र में जिस तरह के नाटकीय बदलावों से हम गुज़रे हैं, उस पर नज़र डालने से हम भारतीय सन्दर्भ में मेंढक-छलाँग के विचार को समझ सकते हैं।

बीस साल पहले महज़ फोन का कनेक्शन लगवाने के लिए एक लम्बा इन्तज़ार करना पड़ता था, या परिवार में किसी ऐसे सदस्य का होना ज़रूरी था जो फोन का हकदार (entitled) हो, या बहुत सारा पैसा खर्च करना

पड़ता था। आखिरकार, जब फोन मिल जाता, तो 'कहाँ फँस गए' वाली भावना रहती। फोन अक्सर काम नहीं करते, और फोन कम्पनियाँ आम तौर पर शिकायतों का कोई जवाब नहीं देतीं। सीधे-सीधे कहें तो माहौल आपूर्ति की कमी और सीमित पहुँच का था। यह आधुनिक अन्तर्राष्ट्रीय माहौल के साथ बेमेल था, जहाँ वांछनीय यही था कि सभी नागरिक आपस में जुड़े हों; जहाँ फोन का होना अब केवल अभिजात्य वर्ग तक सीमित नहीं रह सकता था।

मोबाइल फोन खरीदने का अनुभव काफी दिग्भ्रमित करने वाला है: आप फोन खरीदते हैं, साथ ही साथ, आपको नम्बर भी मिल जाता है, और दुकान से बाहर निकलने से पहले ही आप अपना पहला कॉल लगा भी लेते हैं। कई नए फोन के मालिक लैंडलाइन फोन लगवाने के अनुभव से गुज़रते भी नहीं हैं। वे सीधे ही मोबाइल फोन खरीदने की तरफ बढ़ जाते हैं। बच्चों तक के पास अपना फोन हो सकता है। लैंडलाइन फोन के क्षेत्र में सुधार या रद्दोबदल नहीं हुआ, हम बस उसे पीछे छोड़कर आगे बढ़ गए।

हिन्दी के लिए लिपि का चुनाव

अगर हम किसी साक्षरता-पूर्व भारतीय बोली की तुलना अब तक फोन न होने की स्थिति से करें, तो कोई भी मानक क्षेत्रीय भारतीय भाषा की स्थिति घर में लैंडलाइन फोन होने के बराबर होगी। अब हिन्दी के मामले को देखते हैं।

आधुनिक हिन्दी का इतिहास रोचक है। साक्षरता की आधुनिक 'शुद्ध हिन्दी', हिन्दी क्षेत्र की बोलियों से सहज रूप से ही विकसित नहीं हो गई है। आलोक राय के मुताबिक, आधुनिक शुद्ध हिन्दी, और बेशक देवनागरी लिपि का चुनाव भी, मध्य 19वीं सदी में ब्राह्मणों और कायस्थों के बीच हुए एक सत्ता के संघर्ष का नतीजा है। दोनों समूहों के पास अपनी एक लिखने की व्यवस्था थी – देवनागरी और कैथी – और दोनों ही माध्यमों से सिखाने वाले कई विद्यालय थे। जब तक ब्राह्मणों ने इस सत्ता संघर्ष में जीत हासिल की, तब तक अँग्रेज़ी सबसे ऊपर वाले अभिजात्य वर्ग के लिए महत्व की भाषा बन चुकी थी।

राय के अनुसार, शुद्ध हिन्दी का आगमन हिन्दुस्तान के लोगों को एकजुट करने (या साथ लाने) के उद्देश्य से नहीं हुआ। हिन्दी को सायास संस्कृतनिष्ठ बनाने के पीछे उस अर्ध-विशेषाधिकार-सम्पन्न समुदाय को उसकी आसान पहुँच से दूर रखने की मंशा रही है जो इस भाषा को अपना मानते थे। शुद्ध हिन्दी का निर्माण दरअसल एक चौकीदार की तरह किया गया था!

अँग्रेज़ी की तुलना में जिस बात ने हिन्दी के महत्व के मिथक को बनाए

रखा है, उसके बारे में यह धारणा है कि वह स्थानीय है। पुराने लैंडलाइन फोन की तरह, जिस पर हमें भरोसा करना ही पड़ता था, भले वह हमें किसी से जोड़ न सके।

***

भाषा और आधुनिकरण

यह आस्था का कोई अविश्वसनीय प्रदर्शन नहीं है। हमारे सामने कई ऐसे समाज हैं जिन्होंने अपनी किसी एक प्रमुख स्थानीय भाषा का उपयोग करते हुए आधुनिकता की तरफ यात्रा की है: जापान, चीन, कोरिया, रूस, ईरान, तुर्की। इन सभी देशों के मामले में, शिक्षा, वैज्ञानिक शोध, वित्त और प्रशासन की भाषा के रूप में एक स्थानीय मूल की (indigenous) मानक भाषा के होने ने इन समाजों को एकीकृत करने का काम किया है और सबसे निचले तबकों से आने वाले नवागन्तुकों को उस तक पहुँच दी है।

मुझे यह समझने में बहुत वक्त लगा कि हिन्दुस्तान इन समाजों से कितना अलग है। अव्वल तो, हिन्दुस्तान के इतिहास के अधिकांश समय में एकीकरण कोई गम्भीर सरोकार का मुद्दा था ही नहीं। बल्कि इसके विपरीत, हिन्दुस्तानी शासक वर्ग ने हमेशा ही बाकी के समाज से, अवाम से अलग भाषा ही बोली थी: संस्कृत, फारसी, और अब अँग्रेज़ी।

ऐसा भी प्रतीत होता है कि विज्ञान और तकनीकी के बहस-मुबाहिसों पर नियंत्रण ही किसी भाषा को भविष्य पर पकड़ बनाने देता है, महान साहित्य और काव्य नहीं। और हिन्दुस्तान में किसी भी समय में विज्ञान और तकनीकी की भाषा के रूप में हिन्दी नहीं पनपी। बल्कि, आधुनिक विज्ञान एक विदेश-प्रेरित विद्वत्ता के अभ्यास की तरह उभरा है – हिन्दुस्तानी धातुकारों, कीमियागीरों, कलाकारों और काश्तकारों के काम के विकास के रूप में नहीं। हिन्दुस्तान में

आधुनिक विज्ञान में कुछ अन्तर्निहित अभिजात्य है, जिस कारण वह हिन्दी के दायरे से बाहर की ही चीज़ रहा है।

नतीजतन, हिन्दी एक ऐसी भाषा बनकर रह गई है जिसमें वैज्ञानिक सामग्री अँग्रेज़ी से अनुवाद की जाती है, इस काम में नहीं-शामिल लोगों के लिए। हिन्दी में विज्ञान की पाठ्यपुस्तकें पढ़ना एक अजीब अवास्तविकता का आभास कराती है, क्योंकि हम जानते हैं कि जो हकीकत में वैज्ञानिक हैं, वे अगर एक-दूसरे से हिन्दी में बात करें तब भी अपने काम के दौरान इन शब्दों का उपयोग नहीं करते। ऐसा लगता है मानो पाठक से एक बच्चे की तरह व्यवहार किया जा रहा है, उसे संरक्षण दिया जा रहा है। असली चीज़ की एक असली दिखने वाली नकल के परोसे जाने में सामाजिक विभाजन का यह आभास गहरा गुँथा हुआ है – यहाँ तक कि विज्ञान की पाठ्यपुस्तकों में भी।

***

अँग्रेज़ी बनाम हिन्दी

प्रमुख बात यह है कि गैर-अभिजात्य वर्ग के लिए, हिन्दी, समाज में ऊपर उठने में मददगार होने की बजाय एक भँवर बनकर रह गई है। अगर कोई समाज में ऊपर उठने के लिए हिन्दी की दुनिया में प्रवेश करता है, तो वह लम्बे समय तक अनुवादित ज्ञान सीखने को मजबूर होता है, और फिर जब वह आखिरकार भारतीय समाज की सत्ता के निर्णायक किले – यानी अँग्रेज़ी - तक पहुँचे तो उसे वह सब अनुवादित ज्ञान को त्याग देना पड़ता है। हिन्दी की ज़मीन पर रास्ता खोजते हुए आप इतने किनारे हो जा सकते हैं कि आप शायद अँग्रेज़ी पर हमला बोलने की स्थिति तक पहुँचें ही नहीं।

पर आप शायद यह पूछें कि अँग्रेज़ी पर निशाना साधना ही क्यों है। वो इसलिए कि अँग्रेज़ी एक सशक्त काम (नौकरी) के बाज़ार की कुंजी है। महज़ हिन्दी जानने से आम तौर पर जिस तरह की नौकरियाँ आपको मिलेंगी, उनके लिए कॉलेज में हिन्दी पढ़ने के लिए लगने वाले समय और ऊर्जा की ज़रूरत ही नहीं। जनमाध्यम को छोड़कर, जहाँ स्क्रिप्ट लेखन, समाचार वाचन और पत्रकारिता जैसे कामों में हिन्दी का पुख्ता ज्ञान मददगार हो सकता है – आधुनिक क्षेत्रों की बाकी सभी नौकरियों में अँग्रेज़ी की पकड़ वाले आवेदकों को प्रधानता दी जाती है। और ये क्षेत्र आवेदक की हिन्दी पर महारत के प्रति निरपेक्ष होते हैं।

बदकिस्मती से, भारत में अँग्रेज़ी की निर्मिति भी एक द्वार-रक्षक (चौकीदार) भाषा की तरह ही हुई है – यह सुनिश्चित करने का एक तरीका कि सबसे अच्छी नौकरियाँ अभिजात्य वर्ग के पास ही रहें। इसलिए अँग्रेज़ी तक पहुँच भी

रुकावटों से घिरी रही है। अभिजात्य वर्ग अँग्रेज़ी के एक 'वैश्विक भाषा' होने को आधार बनाकर (खुद के लिए!) अँग्रेज़ी और अँग्रेज़ी माध्यम शिक्षा की वकालत करते रहेंगे। पर दूसरी तरफ वे यह भी सुनिश्चित करेंगे कि अँग्रेज़ी भारत में एक वर्ग-पहचान के रूप में भी अपने महत्व को बरकरार रख पाए। अभिजात्य वर्ग सचमुच दूसरों को अँग्रेज़ी पर पकड़ बनाने में मदद नहीं करने वाला है।

***

गैर-अभिजात्य वर्ग की खुशकिस्मती से, कुलीन वर्ग की प्रवाहपूर्ण अँग्रेज़ी ही वह एकमात्र अँग्रेजी की निपुणता नहीं है जिसका कोई मोल हो। विनीति वैश ने दिल्ली के हिन्दी माध्यम स्कूलों में अँग्रेज़ी के अध्यापन का अध्ययन किया है, और उन्होंने पाया कि इस तरीके से पढ़ाए जाने से आप अँग्रेज़ी पर अधिक-से-अधिक एक निष्क्रिय दक्षता हासिल करते हैं और लिखी हुई अँग्रेज़ी से परिचित हो जाते हैं। यह बाबूगिरी जैसे कामों के लिए तो काफी हो सकता है पर उन कामों के लिए नहीं जो अभिजात्य वर्ग पाना चाहता है। इस तरह से अँग्रेज़ी सीखने वाले विद्यार्थी पहले वाक्य बनाना नहीं सीखते, जैसा कि विकसित देशों में दूसरी भाषा सीखने वाले विद्यार्थी करते हैं। वे पहले कई सारे अँग्रेज़ी के शब्द सीख लेते हैं और बोली गई भारतीय अँग्रेज़ी समझने लगते हैं। और उनकी लिखित अँग्रेज़ी भरे-गए-फॉर्म आदि के साथ काम करने जैसे कार्यों के लिए पर्याप्त भर होती है।

अँग्रेज़ी के शब्दों को अलग-थलग सीख लेना, और दरअसल बोलने से पहले की निष्क्रिय दक्षता हासिल कर लेना – यह हम अपने यहाँ उन परिवारों के बच्चों में भी देखते हैं जो हिन्दी और अँग्रेज़ी, दोनों बोलते हैं। इन परिवारों में बच्चे पहले केवल हिन्दी ही सीखते हैं और अपने वयस्कों द्वारा बोली गई अँग्रेज़ी सुनते हैं। किसी तरह वे समझ जाते हैं कि वे अभी अँग्रेज़ी बोलने 'लायक बड़े' नहीं हुए हैं। फिर एक वक्त ऐसा आता है जब अभिभावक यह देखते हैं कि उनके बच्चे सबकुछ समझने लगे हैं। इसके जल्द बाद ही, अँग्रेज़ी बाहर आने लगती है, कुछ रुक-रुककर, पर पूरे सुगठित वाक्यों में, मानो कि वह जन्म लेने के लिए तैयार होने तक इन्तज़ार कर रही हो!

इससे ऐसा लगता है कि किसी अभिजात भाषा को सीखने का एक कुदरती, या 'सहज' रास्ता है जो शिद्दत से बनाई गई पठन-विधि द्वारा प्रचारित 'असरकारी' तरीके से बिलकुल अलग है। अगर हम ज्यामिति का रूपक इस्तेमाल करें, तो एक ब्रह्माण्ड में दो बिन्दुओं के बीच की सबसे कम दूरी एक सीधी रेखा होगी (असरकारी पठन-विधि)। किसी और ब्रह्माण्ड में, जो सामाजिक स्थिति के प्रति अधिक संवेदनशील हो, शायद

एक घूमता-घामता रास्ता ज़्यादा असरदार होगा, क्योंकि वह बहाव के साथ चलेगा और आपको भाषा के ऊपर एक जन्मजात-सी पकड़ दे सकेगा।

एक अभिनव तरीका

अब हम परिचित ज़मीन पर हैं। किसी अभिजात भाषा में ट्रांज़िशन यानी संक्रमण का एक रूप है जिसे कन्टिन्यूम कहते हैं। 1960 के दशक में कैरिबियन में काम कर रहे भाषाविदों ने देखा कि क्रेओल बोलने वाले लोग अँग्रेज़ी को सीधे ही किसी द्वितीय भाषा की तरह नहीं सीखते – जिसमें क्रेओल और अँग्रेज़ी को अलग रखा जाता हो। बजाय इसके, वे अँग्रेज़ी भाषा का सामना अलग-अलग चरणों में करते थे। वे एक निश्चित व मानक क्रम में अँग्रेज़ी के अलग-अलग पहलुओं पर नियंत्रण हासिल करते जाते थे जिसमें वे अँग्रेज़ी के विकल्पों को क्रेओल से ऊँचे दर्जे पर रखते। हर अँग्रेज़ी बोलने वाले की इस कन्टिन्यूम के कई चरणों पर महारत होती, और वे विभिन्न सामाजिक स्थितियों के अनुसार उस रेंज में आगे-पीछे भी होते रहते थे। कन्टिन्यूम का हर चरण सामाजिक श्रेणीक्रम के किसी-न-किसी सूक्ष्म चरण के साथ भी जुड़ा था।

क्रेओल-उपरान्त कन्टिन्यूम किसी एक भाषा-भाषी लोगों द्वारा अपनी भाषा को दुत्कारे जाते हुए देखने और साथ ही त्वरित ऊपर की तरफ उठने के रास्तों के बन्द होने का एक प्रतिसाद था। उन लोगों का अभिजात वर्ग में इतना उठना-बैठना था ही नहीं कि वे उनको भाषाई मॉडल की तरह देख सकें और उनकी भाषा सीधे ही सीख सकें। कन्टिन्यूम में कदम रखना मध्यम वर्ग में प्रवेश करने के समान ही था।

वे आवश्यक भाषाई परिस्थितियाँ क्या हैं जो इस कन्टिन्यूम को ट्रांज़िशन के एक तरीके के रूप में आगे बढ़ाती हैं? कन्टिन्यूम के दोनों छोरों पर मौजूद दोनों भाषाओं में काफी बड़ी साझी शब्दावली होना ज़रूरी है। इसी से आसान आवाजाही का मुगालता पैदा होता है। कैरिबियाई अँग्रेज़ क्रेओलों के मामले में, जब क्रेओल अस्तित्व में आया, उसी समय ज़्यादातर शब्द अँग्रेज़ी से रूपान्तिरत होकर बने। हिन्दी के मामले में, प्रथा यह है कि हम हिन्दी शब्दों को अँग्रेज़ी के शब्दों से बदलकर, हिन्दी के वाक्यों में कुछ अँग्रेज़ी के शब्द पिरो देते हैं। इन शब्दों के बीच में – क्रेओल में और हिन्दी में – कार्यकारी शब्द आते हैं, और व्याकरण सूचक शब्द, और वर्ग, और खुद शब्दों का क्रम भी – जो अपने अँग्रेज़ी के प्रतिरूप (counter parts) से बहुत अलग होते हैं। ये वे पहलू हैं जिन्हें हटाए जाने की ज़रूरत है। कैरिबियाई देशों में इस तरह से अँग्रेज़ी सीखने को

अक्रेओलीकरण (decreolization) कहा जाता है।

मौजूदा हिन्दुस्तान अभाव और सीमित पहुँच के माहौल से एक ऐसे माहौल की तरफ संक्रमण कर रहा है जहाँ मध्यमवर्ग को जुड़ाव बनाए रखने की ज़रूरत है। ये दोनों स्थितियाँ आपस में मेल नहीं खाती हैं। इसका मतलब यह हुआ कि सहज संक्रमण नामुमकिन है। इस ट्रांज़िशन के लिए विस्थापन लाज़मी होगा।

***

इस कन्टिन्यूम की खासियत यह है कि वह इस विस्थापन को एक सहज रास्ते की तरह प्रस्तुत करता है। यह कितना सहज है कि पहले आप कुछ-कुछ अँग्रेज़ी के शब्दों को सीख लें, फिर उनको हिन्दी के वाक्यों में जगह-जगह बिठाने लगें, फिर ज़्यादा बड़े अँग्रेज़ी के शब्द-समूहों (वाक्यांशों) को वाक्य में बिठाने लगें, और फिर आखिर में हिन्दी के ढाँचे को पूरी तरह से बाहर कर दें? इस रास्ते में कहीं पर किसी जगह एक चीज़ जो मूलतः हिन्दी है, ऐसी चीज़ में तब्दील हो रही है जो बुनियादी रूप से अँग्रेज़ी है।

शुद्धतः भाषा-विज्ञानी स्तर पर, एक ढाँचाई छलाँग लगाई जा रही है। मसलन, किसी जापानी व्यक्ति के लिए जो अँग्रेज़ी और जापानी को दो अलग भाषाई कोड की तरह देखते हों, इस तरह का ढाँचाई सफर मुश्किल होगा। पर कन्टिन्यूम पर खड़े किसी हिन्दुस्तानी को न केवल यह ढाँचाई सफर मुश्किल नहीं लगता, वह अनदेखे ही हो जाता है। इसे पकड़ना मुश्किल होता है कि कब यह सफर पार हो गया। हिन्दी और अँग्रेज़ी को दो अलग भाषाई कोड की तरह नहीं देखा जाता, बल्कि एक ही कुशलता के दो आपस में गुँथे हुए दायरों की तरह देखा जाता है। दोनों ही एक जटिल सामाजिक स्थिति के हिस्से हैं। अँग्रेज़ी में किसी नए सीखे हुनर को उपयोग में लाने की क्षमता सामाजिक सीढ़ी में एक स्तर ऊपर उठ जाने जैसा ही है। और यह एक नए साथी-समूह (peer group) तक पहुँच के भी समान है, जो इसी तरह बोलते हैं और एक भाषाई मॉडल की तरह उपलब्ध हैं। जापानी में गहरे बसकर अँग्रेज़ी सीखने वाले किसी शख्स से इतर, अँग्रेज़ी सीखने वाले हिन्दुस्तानी दरअसल अपनी पहचान के परिवर्तन से गुज़रते हैं!

***

उन पहले हिन्दुस्तानियों को जिन्होंने अपने भविष्य को अपने हाथों में लेकर अकेले कन्टिन्यूम में कदम बढ़ाए थे, बिना किसी मदद के, ज़रूर बहुत जूझना पड़ा होगा। ज़्यादातर ने शायद सफर पूरा भी न किया हो, और हिन्दी के वाक्यों में पिरोने के लिए बहुत सारे अँग्रेज़ी के शब्दों को सीखकर, और कुछ अँग्रेज़ी के शब्द-समूहों को सीखकर ही काम चलाया हो। अपनी कुशलता की सीमा के

आगे धकाए जाने पर ये लोग हिन्दी के ढाँचे को अँग्रेज़ी में अनुवाद कर देते होंगे – अँग्रेज़ी के शब्दों को साथ जोड़ने के लिए ('Delhi-in i-stay?')। यानी, ऐसे मौकों पर वे कन्टिन्यूम से बाहर फिसल जाते होंगे। स्वतः बोलने की बजाय, वे अनुवाद करने लगते होंगे।

अद्‌भुत छलांग

पर अब जब और-और हिन्दुस्तानी इस कन्टिन्यूम में आते जा रहे हैं, हम सम्भवतः एक स्नो-बॉल असर[1] देख रहे हैं। यह अब अँग्रेज़ी सीखने का एक सम्भव तरीका बन गया है कि आप अँग्रेज़ी के शब्दों को हिन्दी के वाक्यों में पिरो दें, फिर अँग्रेज़ी के टुकड़ों का आकार बड़ा करते जाएँ, और धीरे-धीरे हिन्दी को ही गायब कर दें। इस तरह से ठीक-ठाक अँग्रेज़ी बोलने वाले लोगों की संख्या बढ़ती जाती है, एक लगातार बढ़ता गैर-अभिजात अँग्रेज़ी-भाषी समुदाय, जो अभिजात वर्ग की तुलना में नए सीखने वालों की कहीं ज़्यादा पहुँच में है। अगर इसे इसके तार्किक निष्कर्ष तक ले जाया जाए, तो ट्रांज़िशन की इस प्रक्रिया का नतीजा ऐसा हिन्दुस्तान (कम-से-कम ऐसा शहरी हिन्दुस्तान) होगा जो फिलिपीन्स या दक्षिण अफ्रीका की तरह हो, जहाँ सभी अँग्रेज़ी में बढ़िया काम चला लेते हैं, हालाँकि ज़्यादा गरीब लोग जो किसी प्रजातीय (ethnic) भाषा के साझेदार हैं, शायद आपस में इसमें अलग से ही बातचीत करें।

***

कन्टिन्यूम वह चीज़ है जिसकी मदद से वयस्क पैरों के नीचे से ज़मीन खिसकने के बावजूद अपने पैर जमाए रख पाते हैं। पर वास्तविक छलाँग इस सबको पार कर जाती है और पीढ़ियों के बीच अलगाव लाती है। गरीब परिवारों के छोटे-छोटे बच्चों को, माँ-बाप द्वारा बड़ी कीमतें चुकाकर, निजी अँग्रेज़ी माध्यम स्कूलों में भेजा जाता है। यह वह क्लासिक स्थिति है जहाँ समाज में ऊपर उठने के नाम पर अभिभावक खुद तकलीफें सहकर बच्चों को एक ऐसे वातावरण में भेजते हैं जो उनके घर के माहौल से बिलकुल अलग है। इससे जो अलगाव पैदा होता है, वह पहले तो समझ से परे होता है, जब बच्चा इस नए समझ-न-आने-वाले माहौल से तालमेल बैठाने की कोशिश करता है। पर न समझ पाने का यही दौर उस पार कूद जाने के समानान्तर है, और पहचान में एक बड़े बदलाव को अंजाम देता है। इसके बाद, बच्चा केवल अपने घर में बातचीत के लिए और खेल के मैदान के लिए पारिवारिक भाषा का इस्तेमाल करेगा।

---

[1] स्नो-बॉल असर - बर्फीली ढलान पर तेज़ी-से लुढ़कता हुआ बर्फ का गोला जो क्रमशः आकार में बड़ा होता जाता है।

पर आम बोलचाल की बातचीत से इतर, भविष्य की ओर झुकाव अँग्रेज़ी की ओर ही होगा।

बदलाव कैसे दिखता है?

माता-पिता अपने बच्चों को इस मुश्किल में क्यों डालते हैं? कुछ न समझ पाने के इस दौर से क्यों गुज़ारते हैं? मेरा कयास है कि वे जानते हैं, बिला किसी शक यह जानते हैं कि किसी हिन्दुस्तानी भाषा में शिक्षा हासिल करने से आप ज़िन्दगी भर के लिए वहीं अटककर रह जाने का खतरा मोल लेते हैं। ऐसा लगता है कि ये अभिभावक सोचते हैं कि अपनी पहचान को बदलने का सही वक्त ज़िन्दगी में काफी शुरुआत में ही होता है। यह ऐसा कुछ है जो आकांक्षाओं से भरा मध्यमवर्ग हमेशा से करता आया हैः त्याग करना, और अपने बच्चों की परवरिश खुद से बहुत जुदा तरीकों से करना।

क्या यह बदलाव वाकई हो रहा है? कहना मुश्किल है, क्योंकि इसका पहला चरण अधिकांश आन्तरिक है, नज़रों से ओझल है। कन्टिन्यूम पर कदम रखने वाला व्यक्ति अब भी अपनी मूल स्थानीय भाषा पर पूरी पकड़ बनाए रखता है। और अगर यह वही स्थानीय भाषा हो जिसके ज़रिए आप उससे आदान-प्रदान करते आए हों, तो आप दोनों ही उस अभ्यास को जारी रखेंगे। क्रान्ति तब आती है जब आपका ध्यान इस बात पर जाता है कि ऐसे लोग आपके द्वारा बोली गई

अँग्रेज़ी को लगभग पूरी तरह समझ पा रहे हैं, और एक नहीं बल्कि अलग-अलग सन्दर्भों में। अँग्रेज़ी में पूछे गए सवालों के जवाब भी वे हिन्दी में दे पाते हैं।

फिर वह स्थिति आती है जब अँग्रेज़ी के और-और बड़े खण्ड अनजाने ही आपकी बातचीत में घुसने लगते हैं। अचरज, या यों कहें मज़े का पल वह होता है, जब आप, उदाहरण के लिए, per cent जैसे अँग्रेज़ी की दुनिया के संख्यात्मक अवधारणात्मक शब्द के लिए शुद्ध हिन्दी के शब्द का उपयोग करते हैं। ऐसे विदेशियों से अनायास ही अँग्रेज़ी में बात की जाती है जिनकी अँग्रेज़ी आपकी अँग्रेज़ी जितनी प्रवाहपूर्ण न हो, जबकि आपके साथ वे अपनी बातचीत आपकी साझी हिन्दुस्तानी ज़ुबान में ही जारी रखते हैं। और फिर एक वह दिन आता है जब वे आपकी परेशानी को खत्म करते हुए किसी तकनीकी मसले पर बात करते हुए पूरी तरह अँग्रेज़ी का प्रयोग करते हैं। और फिर आपसे आम रोज़मर्रा की गपशप के लिए हिन्दी की ओर लौट जाते हैं।

***

बदलाव का एक ज़्यादा दिखाई पड़ने वाला संकेत वे हाल में और अचानक वजूद में आए छोटे बच्चे हैं जो लगभग शुरू से ही अँग्रेज़ी जानते हैं। इनकी किसी हिन्दुस्तानी ज़ुबान पर बस थोड़ी ही पकड़ है जिससे वे रोज़मर्रा के सन्दर्भों में अपने दादा-

दादी, नाना-नानी या गरीब लोगों से बात करते हैं। ये उन माता-पिताओं के बच्चे हैं जिन्हें अँग्रेज़ी माध्यम स्कूलों में भेजा गया था, जिन्होंने बड़े विस्थापन का अनुभव किया है। इन अभिभावकों ने अपनी नई पहचान को अपने बच्चों को आगे प्रसारित कर दिया है।

यह सब क्यों हो रहा है? यातायात के एक रूपक का इस्तेमाल करूँ तो, जब तक गैर-अभिजात वर्ग सिर्फ स्थानीय यात्राएँ ही कर रहा था, वह गलियों, पगडण्डियों और मोहल्ले के अन्दर के कच्चे रास्तों से काम चला पा रहा था। पर एक आधुनिक मध्यम वर्गीय समाज की तरफ दौड़ ने और विशाल क्षितिज एवं यात्राओं का रास्ता खोल दिया है। और यात्राओं के लिए ज़ाहिर ही है कि गाड़ी वाली सड़कों पर चलना होगा। और हिन्दुस्तान में गाड़ी वाली सड़कों की भाषा हमेशा से ही अँग्रेज़ी रही है, अभिजातों की भाषा (जो, विचित्र और हास्यास्पद है, कि खुद को मध्यम वर्ग कहता है)। हिन्दी और दूसरी हिन्दुस्तानी ज़ुबानें कभी भी उस तरह से रफ्तार वाली सड़कों की भाषा नहीं बनी हैं जिस तरह से चीनी, जापानी या कोरियन। अँग्रेज़ी को अपने भाषाई खण्ड में सबसे ऊपर रखने की आज हम यह कीमत चुका रहे हैं, कि स्थानीय भाषाएँ मार खा जाती हैं जब गैर-अभिजात वर्ग उनको एक मध्यम-वर्ग से नीचे के अस्तित्व के बराबर मानता है।

***

त्रासदी बनाम सम्भावनाएँ

क्या यह कोई त्रासदी है? तभी अगर आप हमारी भाषाओं को, उनको बोलने वाले समुदायों की तकदीरों से जुदा, किसी अलग-थलग चीज़ की तरह देखें। पर अगर किसी ज़ुबान को उसके सामाजिक-आर्थिक वातावरण से अलग करना नामुमकिन हो, तो हमें जो दिखाई देता है, वह माइग्रेशन यानी पलायन का ही एक और रूप हैः भाषागत रूप से आगे बढ़ते हुए जीवित बच रहे इन्सान (survivors) जो अपने स्थिर पैरों के नीचे से खिसकती हुई ज़मीन पर टिके हुए हैं। चट्टानों पर चढ़कर बस थोड़ा-सा ऊपर वाले पठार पर बने अपने नए घरों की ओर जाते हुए, जबकि उनके पुराने घर गरीबी रेखा के नीचे डूबते जा रहे हैं।

पर सबसे बड़ा बदलाव तो अँग्रेज़ी में ही हो रहा है, हालाँकि उसके ढाँचे में कोई परिवर्तन नहीं हो रहा। अँग्रेज़ी एक आबादी के उफान का अनुभव करेगी जो उसे उसकी अभिजात ज़ुबान की मौजूदा भूमिका से बदल देगा। अभिजात वर्ग के लिए अँग्रेज़ी पर कम पकड़ के बहाने गैर-अभिजात वर्ग के साथ भेदभाव करना मुश्किल-से-मुश्किल होता जाएगा। इसमें सामाजिक बदलाव की अपार सम्भावना है।

क्या भारतीय भाषाएँ इसका

सामना करके टिकी रह सकेंगी? क्या अँग्रेज़ी शान्तिपूर्वक हिन्दुस्तानी ज़ुबानों के साथ जगह बाँट सकेगी? कयास तो यही है कि नहीं। डिग्लोसिया (Diglossia – एक ऐसी द्विभाषी स्थिति जहाँ एक भाषा को ऊँचा दर्जा हासिल है और दूसरी को नीचा) अपने आप में ही एक अस्थाई स्थिति है। वह महज़ एक मध्यम-वर्ग-पूर्व समाज में ही टिकाऊ प्रतीत होती है जहाँ निचली भाषाई जगहें (बोलियाँ, स्थानीय भारतीय भाषाएँ) टिकाऊ सामाजिक-आर्थिक दायरों (जहाँ किसी तरह नाक पानी से ऊपर रखी जाती है) को परिभाषित करती हैं। परन्तु बड़े पैमाने पर मध्यम वर्गीय समाज में ट्रांज़िशन सामाजिक ताने-बाने के लिए द्विभाषीयता के उन शुरुआती प्रयासों से कहीं ज़्यादा विध्वंसकारी होते हैं। अँग्रेज़ी के बहुत छोटे बच्चों तक पहुँचते जाने से घर के भाषाई सन्तुलन में भी हलचल मचेगी।

***

दो भाषाओं को बनाए रखना, जबकि उनमें से एक की कामकाजी जगह सिकुड़ती जा रही हो, मुश्किल होता है। इसके लिए मज़बूत इरादा लगता है। यह दोहराव वाली गतिविधि बन जाती हैः किसी गतिविधि को कमज़ोर भाषा में भी जारी रखना जबकि उसकी जगह लेने वाली भाषा में भी हम वह गतिविधि सन्तोषजनक तरीके से कर पा रहे हैं। आखिरकार हम ऐसा करना बन्द कर देते हैं।

और जैसे-जैसे ऐसे गरीबों की संख्या कम होती जाएगी जो इस भ्रम को बनाए रखते हैं कि 'हमारी' भाषाएँ उपयोग में हैं (हालाँकि 'हम' उसका उपयोग नहीं करते!), ये भाषाएँ ही गायब हो जाएँगी। हम सब ज़िन्दा रह जाएँगे, पर कुछ बदले हुए।

गलत साबित होने का मज़ा

इस बात में भी कुछ रोमांच है कि आप घटनाक्रम में आए किसी मोड़ से अचरज में पड़ जाएँ, और गलत साबित हो जाएँ। मैंने एक सदी का चौथाई हिस्सा इस बात के लिए संघर्ष करते बिता दिया कि हिन्दुस्तान को जापान, चीन और कोरिया जैसा करना चाहिए। कि सरकार को अभिजात और गैर-अभिजात वर्गों को आपस में मिलाने के लिए पहल करनी चाहिए और इसके लिए स्कूली शिक्षा केवल क्षेत्रीय भाषाओं में ही दी जानी चाहिए। और इस तरह से हिन्दुस्तानी भाषाओं को उनके कामकाज का सबसे ऊँचा इलाका भी लौटाना चाहिए जहाँ अभी अँग्रेज़ी ने दखल कर रखा है। पर वह हुआ नहीं। अभिजात वर्ग अँग्रेज़ी को छोड़ने को तैयार ही नहीं।

सो अब गैर-अभिजात वर्ग ने उस भाषा पर अपना हक जताते हुए मोर्चा सम्भाल लिया है जो हिन्दुस्तान में मध्यम-वर्गीय होने से जुड़ा है। वे हिन्दुस्तान को एक विशाल अँग्रेज़ी-

भाषी मुल्क बनाने को तैयार हैं, जहाँ हम, अभिजात वर्ग के लोगों को अपनी जगह बनाए रखने के लिए जद्दोजहद करनी होगी। जहाँ रोचक चीज़ें होने को हैं।

आधुनिक विवरणात्मक भाषा-विज्ञान (descriptive linguistics) का एक बुनियादी नियम यह है कि बनाए हुए व्याकरणों की बनिस्बत असली भाषाएँ कहीं अधिक जटिल और आन्तरिक एकरूपता से लैस होती हैं। इसी तरह, हमारी बनाई किसी दुनिया की तुलना में असली दुनिया भी कहीं ज़्यादा पेचीदा और आत्म-नियमित है। अभिजात वर्ग के कदम उठाने की विफलता का मतलब यह नहीं कि समाज हमेशा के लिए स्थिर हो जाए। वह तब तक सन्तुलन की एक स्थिति में रहता है जब तक बाढ़ का पानी ऊपर तक न चढ़ जाए, जब कदम उठाना अपरिहार्य हो। बदलाव रोज़-रोज़ के इरादे की कोशिश नहीं है, वह तो बड़े परिवेशीय बदलावों के चलते बेमन से दिया गया एकबारगी जवाब है।

यह सब हमने पहले भी देखा है, वेस्ट इन्डीज़ में, जो हिन्दुस्तानी गरीबों का एक और पलायन-स्थल है। अँग्रेज़ी की तरफ एक समुदाय की अथक चढ़ाई, जिसके समानान्तर हिन्दुस्तान से लाई सभी भाषाएँ विलुप्त हो गईं। और इस प्रक्रिया का अन्त भी हमने देखा है – गरीब हिन्दुस्तानियों का दुनिया के मध्यम वर्ग में तब्दील हो जाना। आप कुछ खो देते हैं, पर बहुत कुछ पा लेते हैं।

पैगी मोहन: इनका जन्म वेस्ट इंडीज़ के त्रिनिदाद में हुआ था। उपन्यासकार हैं और इन्होंने भाषा विज्ञान भी पढ़ाया है। बच्चों के लिए एनिमेटेड केलिग्राफ, चित्रकारी, गाने लिखने और पत्थर के मोज़ाइक बनाने के अलावा टेलीविज़न कार्यक्रम भी बनाए हैं।

अँग्रेज़ी से अनुवाद: टुलटुल बिस्वास: *एकलव्य,* भोपाल में कार्यरत। कई सालों तक बच्चों के सहज जीवन पर आधारित किताबें, पत्रिकाएँ और अन्य पठन सामग्री बनाने में अहम भूमिका निभाई। इन दिनों शिक्षक शिक्षा, प्रसार और पैरवी का काम कर रही हैं।

सभी चित्र: हरमन: चित्रकार हैं। दिल्ली कॉलेज ऑफ आर्ट, नई दिल्ली से फाइन आर्ट्स (चित्रकारी) में स्नातक और अम्बेडकर यूनिवर्सिटी, नई दिल्ली से विज़ुअल आर्ट्स में स्नातकोत्तर। भटिंडा, पंजाब में रहती हैं।

यह लेख *सेमिनार* पत्रिका के अंक - जनवरी 2005 से साभार।

इस लेख से सम्बन्धित रेफरेंस देखने के लिए दिए गए QR code को स्केन करें।

युद्ध

लुइजी पिरांदेल्लो

रात की एक्सप्रेस में रोम से आए यात्रियों को सुबह तक फाब्रिआनो नामक छोटे स्टेशन पर रुकना पड़ा, जहाँ मेन लाइन से सुलोमोना को जोड़ने वाली पुराने ढंग की 'लोकल' से उन्हें आगे जाना था।

सुबह-सुबह आकारहीन गठरी जैसी एक गमगीन मोटी औरत को सेकण्ड-क्लास के एक डिब्बे में चढ़ाया गया, जिसमें पिछली रात से पाँच लोग बैठे हुए थे। उसके पीछे दुःख भरी साँसें लेता और रुआँसा चेहरा लिए उसका पति चढ़ा। वह दुबला और कमज़ोर था, उसका चेहरा मुरझाया हुआ था और उसका कद छोटा था। उसकी छोटी आँखें शर्मीली और परेशान-सी थीं और चमक रही थीं।

सीट पर अच्छी तरह बैठकर उसने उन सभी यात्रियों को शुक्रिया

कहा, जिन्होंने उसकी पत्नी को चढ़ाने में मदद की और उसे जगह दी। फिर उस औरत की ओर मुड़कर, उसकी कोट की कॉलर खींचते हुए नर्म आवाज़ में पूछा, "अब जी ठीक है तुम्हारा?"

पत्नी ने जवाब नहीं दिया और कॉलर आँखों तक वापस खींच ली, जिससे उसका चेहरा ढँक जाए।

"बड़ी खराब है ये दुनिया," पति ने दुखभरी मुस्कान के साथ कहा।

और उसे लगा कि यह उसकी ज़िम्मेदारी है कि वह साथ के यात्रियों को यह बतलाए कि उस औरत की परिस्थिति सचमुच दयनीय है क्योंकि उसके एकमात्र बेटे को जंग के लिए बुलावा आया है; उसकी सारी ज़िन्दगी उस बीस साल के बेटे की देखभाल में बीती थी; यहाँ तक कि वे उसके साथ सुलोमोना से घर छोड़ रोम तक गए, जहाँ वह पढ़ाई के लिए आया था, फिर कैसे छह महीने तक मोर्चे पर न जाने के आश्वासन पर उन्होंने उसे जंग के लिए स्वयंसेवी बनने की अनुमति दी थी और फिर उन्हें अचानक तार मिला कि वह तीन दिनों में जाने वाला है और वे आकर उसे विदा करें।

***

भारी कोट से दबी उस औरत का शरीर रह-रह कर हिल रहा था और तड़पती हुई वह बीच-बीच में किसी जानवर-सी गुर्रा रही थी, उसे मानो स्पष्ट रूप से यह पता था कि इन सब लोगों की ज़रा भी सहानुभूति उसके प्रति नहीं होगी - क्योंकि वे भी आखिर उन्हीं जैसी हालत में होंगे। उनमें से एक आदमी, जो बड़े ध्यान से उनकी बातें सुन रहा था, बोला, "खुदा का शुक्र मनाओ कि तुम्हारा बेटा अभी मोर्चे पर जा रहा है, मेरा बेटा वहाँ जंग के पहले दिन से गया हुआ है। इसी बीच वह दो बार ज़ख्मी होकर लौट आया और फिर से वापस मोर्चे पर भेजा गया।"

"और मेरी भी सुनो - मेरे दो बेटे और तीन भतीजे मोर्चे पर हैं," एक और यात्री ने कहा।

"ठीक है, पर हमारा तो इकलौता बेटा है," पति ने ज़ोर देकर कहा।

"तो क्या फरक पड़ता है? इकलौते बेटे को ज़्यादा लाड़ देकर आप उसे बिगाड़ सकते हैं, पर अगर आपके और भी बच्चे होते तो आप उन्हें कम प्यार नहीं करते। माँ-बाप का प्यार कोई रोटी नहीं होती, जिसे आप बच्चों में बराबर-बराबर बाँट सकें। बाप सभी बच्चों से बिना भेद-भाव के समान रूप से प्यार करता है, चाहे वह एक हों या दस और मुझे अपने दो बच्चों के लिए जितनी तकलीफ हो रही है, वह एक-एक के लिए आधी-आधी नहीं, बल्कि दुगुनी हो रही है..."

"ठीक बात है... ठीक बात है...," पति ने झेंपते हुए लम्बी साँस ली,

"पर देखिए, (हमें पूरी आशा है कि आपके साथ ऐसा नहीं होगा) अगर एक पिता के दो बेटे मोर्चे पर हों और उनमें से एक खतम हो भी गया, फिर भी उनको सान्त्वना देने के लिए एक तो बाकी रहेगा... पर...।"

"वाह भाई", दूसरा व्यक्ति बिगड़ते हुए बोला, "एक तो उसके चित्त की शान्ति के लिए रह जाएगा, अब उसे बच गए बेटे के लिए ज़िन्दा रहने को मजबूर होना पड़ेगा, जबकि इकलौते बेटे का बाप बेटे की मौत के बाद खुद भी मरकर अपने गम से छुटकारा पा सकता है। इन दो में से कौन-सा हाल ज़्यादा खराब है? आप ही बतलाएँ, मेरी हालत आपसे बदतर है या नहीं?"

"क्या बकवास है," खून से भरी पर बिलकुल बेजान स्याह रंग की आँखों वाला लालमुँहा, एक अन्य मोटा यात्री अचानक बोल उठा।

उसका दम उखड़ रहा था, उसकी बड़ी-बड़ी आँखों से भयंकर कोई अन्दरूनी आक्रोश बेरोक उमड़ रहा था और उसका कमज़ोर शरीर इसे सह नहीं पा रहा था।

"बकवास," सामने के दो टूटे दाँतों को छिपाने के लिए हाथ से मुँह ढँकते हुए वह फिर बोला, "कैसी बकवास है

यह.. क्या हम अपने फायदे के लिए बच्चे जनते हैं?"

दूसरे मुसाफिर परेशान होकर उसकी ओर ताकने लगे। जंग के पहले दिन से मोर्चे पर भेजे गए लड़के के बाप ने लम्बी साँस लेकर कहा, "सही है, हमारे बच्चे हमारे अपने लिए नहीं होते, वे हमारे देश की सन्तान हैं..."

"छोड़िए साहब," मोटे यात्री ने गुस्से में जवाब दिया, "क्या हम बच्चों को जनते वक्त देश का ख्याल करते हैं? हमारे बेटों का जन्म... हाँ, उनका जन्म इसीलिए होता है कि वह तो होना ही है, और जीवन मिलते ही हमारी ज़िन्दगी उनकी ज़िन्दगी बन जाती है। यही सच है, हम उनके होते हैं, पर वे हमारे नहीं होते। और बीस साल की उम्र में वे वही होते हैं, जो हम उनकी उम्र में होते थे। हमारे भी माँ-बाप थे, पर दूसरी भी बातें थीं हमारी ज़िन्दगी में... लड़कियाँ, सिगरेट, ख्वाब, नए रिश्ते... और हाँ वतन भी, जिसके लिए बीस साल की उम्र में हम खुद को न्यौछावर करने को तैयार थे - हमारे माँ-बाप के मना करने पर भी। अब इस उम्र में - वतन के लिए हमारा प्यार बढ़ा ज़रूर है, पर इससे अधिक हम अपने बच्चों को प्यार करते हैं। हममें से कोई ऐसा नहीं होगा जो बेहिचक मोर्चे पर अपने बेटे की जगह जाने को तैयार न हो।"

चारों ओर से लोग चुपचाप सिर हिलाकर सहमति प्रकट कर रहे थे।

"तो फिर," मोटा आदमी बोलता रहा, "बीस साल की उम्र के अपने बच्चे की भावनाओं की हम कद्र क्यों नहीं करते? यह तो स्वाभाविक ही है कि इस उम्र में (वैसे मैं सिर्फ अच्छे बच्चों की ही बात कर रहा हूँ) वे हमारी अपेक्षा देश से अधिक प्यार करेंगे, ऐसा तो होना ही है क्योंकि उनकी दृष्टि में तो हम बुड्ढे हैं, जो हिल-डुल नहीं सकते और घर पर पड़े रहने को मजबूर हैं। आखिर वतन अगर कुदरती तौर पर लाज़िम है, अगर रोटी-पानी की तरह देश भी बुनियादी ज़रुरत है, तो उसकी रक्षा के लिए किसी को तो लड़ना ही होगा, और इसीलिए हमारे बेटे लड़ने गए हैं, और उनके लिए हमें आँसू नहीं बहाने चाहिए, क्योंकि अगर वो खत्म हो जाते हैं तो सुख की इन्तहा में ही वो खत्म हुए (हाँ, ये सिर्फ अच्छे बच्चों की ही बातें हैं)। भई, अगर कोई ज़िन्दगी की परेशानियों से, ऊब से, छुटपन से और हताशा-जनित द्वेष से बचकर सुखपूर्वक जवानी में ही गुज़र जाए तो इससे अधिक हम क्या चाह सकते हैं? लोगों को रोना बिलकुल नहीं चाहिए... बल्कि आप सब मुस्कुराइए, मेरी तरह... कम-से-कम खुदा का शुक्र अदा करें - मेरी तरह – क्योंकि मेरे बेटे ने मरने के पहले मुझे यह पैगाम भेजा कि अपनी कल्पना में सबसे अच्छी मौत मरने के सन्तोष के साथ ही वह जा रहा है। इसी वजह से, जैसा कि आप देख रहे

हैं, मैं मातमी के कपड़े नहीं पहनता...”

दिखलाने के लिए उसने अपना हल्का पीले-भूरे रंग का कोट हिलाया, टूटे दाँतों पर उसके जीवन्त होंठ हिल रहे थे, उसकी आँखें गतिहीन छल-छला रहीं थी और एक तीखी हँसी के साथ उसने बातें खत्म कीं, जो कि रोना भी हो सकता था।

“हाँ, सही बात है... सही है...।” दूसरों ने सहमत होते हुए कहा।

अपने कोट के नीचे दबी, कोने में गठरी-सी पड़ी वह औरत पिछले तीन महीनों से अपने पति और हमजोलियों के मुँह से अपने गहरे दुःख को कम करने के लिए कुछ सुनने का इन्तज़ार कर रही थी - ऐसा कुछ जिससे वह समझ पाए कि कैसे एक माँ अपने बेटे को - ज़रूरी नहीं कि मौत ही हो - पर जीवन-हानि की सम्भावना तक भेजने के लिए तैयार हो सकती है। पर इन सभी बातों में उसे एक भी शब्द काम का नहीं लगा... और उसे यह जानकर और भी तकलीफ हो रही थी कि - जैसा उसने सोचा था - कोई उसकी भावनाओं को नहीं समझ सकता था।

पर इस मुसाफिर की बातों से वह हैरान और स्तब्ध हो गई, अचानक उसे यह बात समझ में आई कि दूसरे लोगों की यह कमज़ोरी नहीं थी कि वे उसे समझ नहीं पा रहे हों, बल्कि वह खुद उन माँ-बाप की ऊँचाई तक नहीं पहुँच पा रही थी, जिन्होंने बिना रोए अपने बेटों को न केवल जाने दिया, बल्कि उनकी मौत तक स्वीकार कर ली।

उसने अपना सिर उठाया। वह मोटा आदमी अपने साथियों को जिस तरह विस्तार से अपने बेटे की शिकवा किए बगैर खुशी-खुशी अपने सम्राट, अपने वतन के लिए बहादुरी के साथ मर मिटने की बातें सुना रहा था, उसे ध्यान से सुनने की कोशिश में अपने कोने से तिरछी होकर बैठी। उसे लगा कि वह भूले-भटके ऐसी दुनिया में आ पहुँची थी जिसका उसने ख्वाब तक न देखा था और जिससे वह बिलकुल अंजान थी। उसे यह देखकर बड़ी खुशी हो रही थी कि अपने बच्चे की मौत के बारे में ऐसी उदासीनता से बातें करते उस बहादुर बाप को हर कोई बधाई दे रहा था।

***

फिर मानो उसने अब तक कही गई कोई बात सुनी ही न हो, और जैसे वह किसी ख्वाब से उठी हो, उस बुज़ुर्ग की ओर मुड़कर उसने पूछा, “तो, तुम्हारा बेटा क्या सचमुच मर गया है?”

हर कोई उसे घूरने लगा। वह बूढ़ा भी उसे देखने के लिए मुड़ा। उसकी बड़ी, फूली हुई, बुरी तरह छलक रही गीली, हल्की-स्याह आँखें उस औरत की शक्ल पर गहराई तक गड़ गईं। वह उसकी तरफ देखता ही रह गया,

मानो जैसे तभी, उस पल, उस निहायत नासमझ, बेमानी सवाल पूछे जाने पर उसे अचानक एहसास हुआ कि आखिर उसका बेटा वाकई मर चुका था - हमेशा हमेशा के लिए वह जा चुका था। उसकी शक्ल सिकुड़ गई, उसमें भयंकर खिंचाव आ गया। जल्दी में उसने जेब से रूमाल निकाला और सभी को हैरत में डालते हुए जिगर कँपाने वाली चीखों के साथ बेकाबू होता वह रोने लगा।

लुइजी पिरांदेल्लो (1867-1936): इटली के कथाकार एवं नाटककार थे। सन् 1934 में साहित्य में नोबेल पुरस्कार से नवाज़ा गया था। इन्होंने 16 वर्ष की अल्पावस्था में ही काव्य-लेखन आरम्भ कर दिया था। पिरांदेल्लो ने उपन्यास भी लिखे हैं, परन्तु उन्हें विशेष ख्याति अपने नाटकों के लिए मिली, जिनमें उन्होंने अनेक प्रयोग किए हैं और अपने द्वीप की स्थानीय भाषा और प्रवृतियों को बहुत स्पष्ट स्वर दिया है।

अँग्रेज़ी से अनुवाद: हरजिन्दर सिंह 'लाल्टू': हिन्दी के प्रतिष्ठित कवि व कहानीकार हैं।

सभी चित्र: नीलोफर वाडिया: 20 साल विज्ञापन के क्षेत्र में काम करने के बाद, चित्रकारी और फाइन आर्ट्स पेंटिंग चुनी। *प्रथम बुक्स* द्वारा 2015 में आयोजित एक ऑनलाइन प्रतियोगिता से बच्चों की किताबों के लिए काम करने का एक सुनहरा अवसर प्राप्त हुआ। तब से लेकर अब तक नीलोफर ने 30 से ज़्यादा भारतीय और विदेशी किताबों के लिए चित्र बनाए हैं। अपनी किशोर बेटी के साथ वे अभी पुणे में रहती हैं।

यह कहानी *जनसत्ता* के अंक 3 मार्च, 1991 में प्रकाशित हुई थी।

सवालीराम

सवाल: क्या यह सच है कि उल्लू दिन में नहीं देख पाता?

- हाटपिपलिया, ज़िला - देवास,
म.प्र.,1995

जवाब: आपने उल्लुओं के बारे में बहुत-सी कहानियाँ सुनी होंगी। पश्चिमी संस्कृतियों में उल्लू को बुद्धिमत्ता का प्रतीक माना जाता है जबकि कई कहानियों में उल्लुओं को अपशकुन भी माना गया है। उल्लू की सबसे प्रमुख विशेषता उसकी आँखें होती हैं। उल्लू बहुत शान्त रह सकते हैं और बिना आवाज़ किए आप पर नज़र बनाए रख सकते हैं। उनकी नज़रों से नज़र मिलाने पर वे अपनी नज़र हटाते नहीं, जिस कारण कई लोग खासकर बच्चे उल्लुओं से डरते हैं।

एक दन्तकथा है कि अगर आप उल्लू के अण्डे या उल्लू की आँखें खाते हैं तो आपकी आँखों की रोशनी में सुधार होता है। दूसरी ओर, मिस्र में, बच्चों को अक्सर उल्लू की आँखों में देखने वाले लोगों के अन्धे हो जाने की कहानियाँ सुनाई जाती हैं। सोचने

की कोशिश कीजिए कि इन कहानियों की जड़ें कहाँ हैं? क्या सच में उल्लू की नज़र इतनी तेज़ होती है?

चूँकि उल्लुओं के पास रात में देखने की असाधारण दृष्टि होती है, इसलिए अक्सर यह सोचा जाता है कि वे दिन की तेज़ रोशनी में अन्धे होते हैं। यह सच नहीं है। उनकी पुतलियों में समायोजन की बहुत ही ज़्यादा क्षमता होती है, जिससे रेटिना पर सही मात्रा में प्रकाश पड़ता है। पुतलियाँ फैल-सिकुड़कर यह नियंत्रित करती हैं कि रेटिना पर कितना प्रकाश पहुँचेगा। उल्लुओं की कुछ प्रजातियाँ वास्तव में तेज़ रोशनी में इन्सानों से बेहतर देख सकती हैं। जितनी रोशनी मनुष्यों को साफ देखने के लिए चाहिए होती है, उल्लू उससे 1/10 या 1/100 रोशनी में साफ देख सकते हैं। यह अनुमान लगाया गया है कि उल्लू रात के समय इन्सानों की तुलना में 35 से 100 गुना बेहतर देख सकते हैं।

उल्लुओं की आँखें बेहद संवेदनशील होती हैं, और उनकी पुतलियाँ दिन के समय हमारी पुतलियों जितनी छोटी नहीं हो सकती हैं। इसीलिए, अतिरिक्त रोशनी को रोकने के लिए उल्लू अक्सर दिन में अपनी आँखों को आधा या आधे से अधिक बन्द कर लेते हैं और लगता है कि उल्लू नींद में हैं या सो रहे हैं, जबकि वास्तव में वे पूरी तरह से जागे हुए और सक्रिय होते हैं।

द्विनेत्र दृष्टि के धनी उल्लू

उल्लू निशाचर जानवर हैं। वे ज़्यादातर रात के दौरान शिकार करते हैं, और अन्य पक्षियों की तुलना में अपनी बेहतर द्विनेत्र दृष्टि (binocular vision) के कारण, वे अपने शिकार को कुशलता से ढूँढ़ने और उस पर हमला करने में सक्षम होते हैं। द्विनेत्र दृष्टि का मतलब है कि किसी चीज़ को दोनों आँखों से एक-साथ देखकर उसकी दूरी का अनुमान लगाना। हमारी द्विनेत्र दृष्टि उल्लू से बेहतर होती है। दरअसल, द्विनेत्र दृष्टि का सम्बन्ध आँखों की प्लेसमेंट से है। अधिकतर पक्षियों की आँखें सर के दोनों बाजुओं में होती हैं जिस कारण वे बड़ा इलाका देख पाते हैं लेकिन दोनों आँखों से एक-साथ दिखाई देने वाला हिस्सा बहुत कम होता है।

तो देखें कि उल्लू रात को देखते कैसे हैं। प्रकाश किरणें पुतली के माध्यम से उल्लू की आँख में प्रवेश करती हैं। जैसे-जैसे अँधेरा बढ़ता है, पुतली तब तक बड़ी होती जाती है जब तक कि वह आँख जितनी बड़ी न हो जाए। आँखों में पीछे की ओर एक प्रकाश-संवेदी (light sensitive) परत होती है, इस परत को दृष्टि-पटल या रेटिना कहते हैं। जब प्रकाश रेटिना पर गिरता है, तो प्रकाश-ग्राही (photoreceptor) कोशिकाएँ इस प्रकाश को विद्युत संकेतों में बदल देती हैं। फिर ये विद्युत संकेत रेटिना से

चित्र-1: *अधिकतर पक्षियों की आँखें सर के दोनों बाजुओं में होती हैं जिस कारण वे ज़्यादा व्यापक क्षेत्र देख पाने में सक्षम होते हैं (जैसे ऊपर वाले चित्र में दिखाया गया पक्षी)। परन्तु इसके कारण, दोनों आँखों से एक-साथ दिखाई देने वाला हिस्सा उनके लिए बहुत कम होता है। लेकिन उल्लुओं में द्विनेत्र दृष्टि यानी बायनोक्युलर विज़न होता है। द्विनेत्र दृष्टि का सम्बन्ध आँखों की प्लेसमेंट से होता है जिसमें अगर दोनों आँखें सामने की तरफ हों तो दोनों आँखों से एक-साथ दिखने वाला हिस्सा कहीं ज़्यादा होता है। चाहे सीमित हो, परन्तु द्विनेत्र दृष्टि के कारण, उल्लू अपने शिकार को कुशलता से ढूँढ़ने और उस पर हमला करने में ज़्यादा सक्षम होते हैं।*

प्रकाश तंत्रिकाओं (optical nerves) के माध्यम से मस्तिष्क तक जाते हैं। मस्तिष्क विद्युत संकेतों को उन छवियों में बदल देता है जो इमेज कहलाती हैं। मनुष्यों समेत सभी जन्तुओं में देखने और छवि निर्माण की प्रक्रिया ऐसी ही होती है, परन्तु हमारी पुतलियाँ एक हद तक ही बड़ी-छोटी हो पाती हैं।

मनुष्यों सहित जानवरों की आँखों में दो प्रकार की प्रकाश-ग्राही कोशिकाएँ होती हैं - 'रॉड्स' और 'कोन्स'। रॉड्स कम रोशनी और गति को भाँपने में मदद करते हैं, जबकि कोन्स पर्याप्त रोशनी होने पर रंग भाँपने का काम करते हैं। कोन्स के कारण ही हम रंगों को देख पाते हैं।

उल्लुओं में कोन्स की तुलना में रॉड्स की संख्या कहीं अधिक होती है। इसी कारण उल्लू की आँखें प्रकाश की मात्रा के प्रति अत्यधिक संवेदनशील होती हैं, और आप अक्सर उन्हें दिन के दौरान आँखों को बन्द किया हुआ देखते हैं जिससे आपको लगता है कि वे सो रहे हैं। हाँ, यह सही है कि उल्लू निशाचर होते हैं, लेकिन वे सुबह या देर दोपहर में भी शिकार करते हैं। एक स्रोत के अनुसार, ग्रेट हॉर्न्ड उल्लू

केवल काले और सफेद रंग देख पाते हैं क्योंकि उनके रेटिना में रंग दृष्टि के लिए कोन्स काफी कम मात्रा में होते हैं।

क्या खास है इन आँखों में?

उल्लू की आँखों में एक विशेषता और होती है - उनके रेटिना के पीछे एक और परत होती है जो प्रकाश को परावर्तित कर देती है। बहुत कम प्रकाश उपलब्ध हो तो यह परत रेटिना से निकलकर पीछे जाने वाले प्रकाश को परावर्तित करके वापिस रेटिना पर पहुँचा देती है जिससे कम प्रकाश में भी उल्लू को देखने में मदद मिलती है। ऐसी परत कई अन्य जानवरों में पाई जाती है लेकिन मनुष्यों में नहीं।

एक और मज़ेदार तथ्य यह है कि उल्लुओं की आँखें गोल की बजाय ट्यूब के आकार की होती हैं। मनुष्य की आँखें गोल होती हैं। ट्यूब जैसी आँखें होने के कारण उल्लू (तथा अन्य पक्षी) अपनी आँखों को घुमा नहीं सकते। इस रुकावट को उल्लू अपने सर को 270 डिग्री बाएँ या दाएँ और लगभग उल्टा करने में सक्षम होने से पार करते हैं। और-तो-और उल्लू अपनी दोनों पुतलियों का आकार स्वतंत्र रूप से बदल सकते

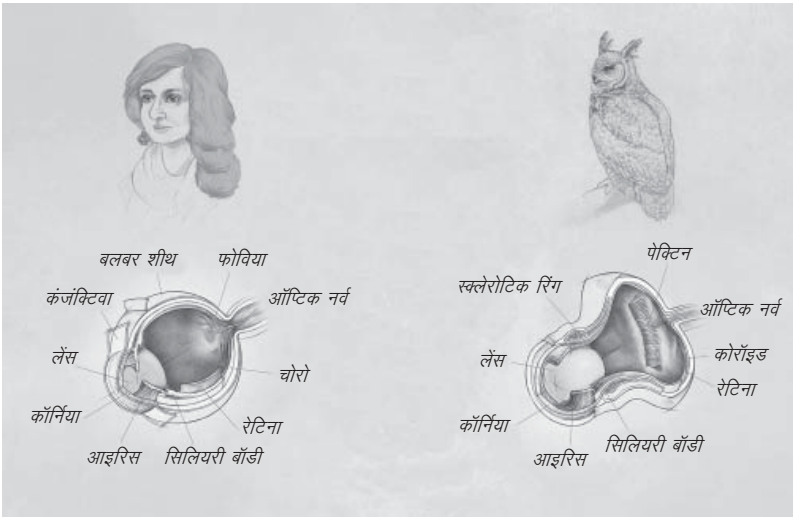

चित्र-2: *मानव और उल्लू की तुलनात्मक नेत्र रचना। उल्लुओं की आँखें ट्यूब के आकार की होती हैं जबकि मनुष्य की आँखें गोल होती हैं। ट्यूब जैसी आँखें होने के कारण उल्लू अपनी आँखों को घुमा नहीं सकते। और इस कमी को वो अपनी गर्दन को 270 डिग्री बाएँ या दाएँ घुमाकर और गर्दन को उल्टा करके पूरा करते हैं।*

चित्र-3: *यह उल्लू किस तरफ देख रहा है? उल्लू अपने सिर को किसी भी दिशा में 270 डिग्री तक घुमा सकता है।*

हैं, जो उन्हें अपनी आँखों को उपलब्ध रोशनी के अनुसार अनुकूलित करने देता है।

है न यह कमाल की बात? तो, अगली बार जब आप किसी उल्लू को देखें, तो जादुई आँखों वाले इस राजसी जानवर की मन ही मन प्रशंसा ज़रूर करें। और हाँ, यदि आप दिन में उल्लू को अपनी आँखें हल्की बन्द किए देखें, तो यह न सोचें कि वह सो रहा है, शायद वह आप पर ही नज़रें टिकाए बैठा हो!

श्रेया: इंडियन इंस्टिट्यूट ऑफ साइंस एजुकेशन एंड रिसर्च, मोहाली में जीवविज्ञान की छात्रा हैं। रचनात्मक लेखन में रुचि। शब्दों के माध्यम से विज्ञान और दुनिया के बारे में लोगों के अन्दर आश्चर्य की भावना को बढ़ाने में भूमिका निभाना चाहती हैं।

उल्लुओं द्वारा शिकार को टार्गेट करने के लिए कानों की भूमिका और उल्लू की द्विनेत्र दृष्टि पर विस्तार से जानने के लिए पढ़ें लेख 'उल्लू की नज़र' *संदर्भ* के अंक - 97, मार्च-अप्रैल, 2015 में।

इस बार का सवाल: कुकर में कुछ पकाते वक्त डिब्बों के नीचे जाली क्यों रखी जाती है?

उज्जैन, म.प्र.

आप हमें अपने जवाब sandarbh@eklavya.in पर भेज सकते हैं।

प्रकाशित जवाब देने वाले शिक्षकों, विद्यार्थियों एवं अन्य को पुस्तकों का गिफ्ट वाउचर भेजा जाएगा जिससे वे पिटाराकार्ट से अपनी मनपसन्द किताबें खरीद सकते हैं।

फोटो: ताहिर अली

फोटो: विपुल कीर्ति शर्मा

उल्लू किस ओर देख रहे हैं!

RNI No.: MPHIN/2007/20203

प्रकाशक, मुद्रक, राजेश खिंदरी की ओर से निदेशक एकलव्य फाउण्डेशन, जमनालाल बजाज परिसर,
जाटखेड़ी, भोपाल - 462 026 (म.प्र.) द्वारा एकलव्य से प्रकाशित तथा
भण्डारी प्रेस, ई-2/106, अरेरा कॉलोनी, भोपाल - 462 016 (म.प्र.) से मुद्रित, सम्पादक: राजेश खिंदरी।